क्या करें ?

'त्यागभूमि'

"× × × आजकल नाम के बराबर काम नहीं होता। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि 'त्याग-भूमि' इस बुरी आदत को दूर करने का प्रयत्न करेगी। ×"

मोहनदास गांधी

"हिन्दी में त्यागभूमि जैसी सुन्दर पत्रिका देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। × × मैं चाहता हूँ कि वह चिरजीवी हो।"

मदनमोहन मालवीय

"× × मेरी राय में हिन्दी में सब से अच्छी पत्रिका 'त्यागभूमि' है। ×"

जवाहरलाल नेहरू

क्या करें ? (द्वितीय खण्ड)

(टाल्स्टाय

अनुवादक

श्री क्षेमानंद 'राहत'

प्रकाशक

जीतमल लूणिया

सस्ता मंडल, अजमेर.

निवेदन

इस खण्ड को प्रकाशित करने का वादा तो हम १९२७ में ही कर चुके थे लेकिन हमें इस बात पर बड़ा दुःख है कि यह पुस्तक तीन वर्षों में आज निकल रही है। इसके लिए हम पाठकों के क्षमा-प्रार्थी हैं।

प्रकाशक

क्या करें ?

टालस्टॉय

(द्वितीय भाग)

मैंने देखा कि मनुष्यों के दुःख और पतन का कारण यही है कि कुछ लोग दूसरे लोगों को गुलाम बना कर रखते हैं। अतएव मैं इस सीधे और सरल निर्णय पर पहुँचा कि यदि मुझे दूसरों की मदद करना अभीष्ट है तो जिन दुःखों को मैं दूर करने का विचार करता हूँ सबसे पहले मुझे उन दुःखों की उत्पत्ति का कारण न बनना चाहिए—अर्थात्, दूसरे मनुष्यों को गुलाम बनाने में मुझे भाग न लेना चाहिए।

परन्तु मनुष्यों को गुलाम बनाने की मुझे जो जरूरत मालूम पड़ती है वह इसलिए कि बचपन से ही स्वयं अपने हाथ से काम न करने की तथा दूसरों के परिश्रम पर जीवित रहने की मुझे आदत पड़ गई है। और मैं ऐसे समाज में रहता हूँ कि

जहाँ लोग दूसरों से अपनी गुलामी कराने के अभ्यस्त ही नहीं हैं बल्कि अनेक प्रकार के चतुरतापूर्ण अथवा कुतर्क-युक्त वाक्-बल से दासता को न्याय्य और समुचित भी सिद्ध करते हैं।

मैं तो इस सीधे-सरल परिणाम पर पहुँचा कि लोगों को दुःख और पाप में न डालना हो तो दूसरों की मजदूरी का हमसे हो सके जितना कम प्रयोग करना चाहिए और स्वयं अपने ही हाथों यथासम्भव अधिक से अधिक काम करना चाहिए। इस प्रकार देर तक घूम-फिरकर मैं उसी अनिवार्य निर्णय पर पहुँचा कि जिसको चीन के एक महात्मा ने पाँच हजार वर्ष पूर्व इस प्रकार व्यक्त किया था—'यदि संसार में कोई एक आलसी मनुष्य है तो अवश्य ही दूसरा कोई भूखा मरता होगा।' मैं इस सरल और स्वाभाविक निश्चय पर पहुँचा कि जिस दुर्बल घोड़े पर मैं बैठा हूँ उसपर यदि मुझे दया आती हो और मैं वास्तव में उसके कष्ट को दूर करना चाहता हूँ तो सबसे पहला काम मुझे यह करना चाहिए कि मैं घोड़े पर से उतर पड़ूँ और पैदल चलूँ। यही एक ऐसा उपाय है कि जो हमारे हृदय की नैतिक वेदना को पूर्ण रूप से शान्त कर सकता है और जो मेरी तथा अन्य सभी लोगों की दृष्टि के सामने रहता है, किन्तु हम सब उसे देखकर भी नहीं देखते और इधर-उधर भटकते फिरते हैं।

अपने समाज की व्याधियों को दूर करने के लिए हम चारों

ओर देखते हैं—सरकारी, सरकार-विरोधी, वैज्ञानिक तथा परोपकारी प्रवृत्तियों तथा समस्याओं द्वारा इसे दूर करने की चेष्टा करते हैं; किन्तु हम उसी उपाय को नहीं देखते, जो सबकी आँखों के सामने है। हम अपनी नालियों को गन्दगी से भर कर दूसरे आदमियों से साफ कराते हैं और यह दिखाना चाहते हैं कि हमें इन काम करने वालों के लिए दुःख है और हम उनका दुःख दूर करना चाहते हैं। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए हम तरह-तरह के उपाय ढूँढते हैं; किन्तु जो सबसे सरल-स्पष्ट मार्ग है, बस उसी की ओर नहीं देखते। मतलब यह कि जबतक यह आवश्यक हो कि हम अपने कमरे में गन्दगी पैदा करें तबतक हमें अपने हाथों ही उस गन्दगी को दूर करना चाहिए।

जिसे अपने पास-पड़ोस में रहने वालों को दुःखी देख कर सचमुच ही दुःख होता है, उसके लिए इस रोग को दूर करने और अपने जीवन को नीति-मय बनाने का एक ही सरल और सीधा उपाय है। और यह उपाय वही है, जो 'हम क्या करें ?' प्रश्न किये जाने पर जॉन बैप्टिष्ट ने बताया था और ईसा ने भी जिसका समर्थन किया था। एक से अधिक कोट अपने पास नहीं रखना और न अपने पास पैसा रखना—अर्थात्, दूसरे मनुष्य के परिश्रम से लाभ नहीं उठाना और दूसरों के परिश्रम के लाभ न उठाने के लिए

यह आवश्यक है कि हम अपना काम अपने हाथ से करें। यही इस संसार में फैले हुए दुःख-दारिद्र और अनाचार को दूर करने का एकमात्र सरल और अचूक साधन है। यह बिलकुल सरल और स्पष्ट है; किन्तु यह सरल और स्पष्ट उसी हालत में है कि जब हमारी आवश्यकतायें भी वैसी ही सरल और स्पष्ट हों और जब हम स्वयं स्वस्थ हों और सुस्ती तथा काहिली से एकदम ही जर्जरित न होगये हों।

मैं गाँव में रहता और अंगीठी के पास पड़ा रहता हूँ और अपने पड़ोसी को, जो मेरा कर्जदार है, आज्ञा देता हूँ कि लकड़ी काट कर लाओ और मेरी अंगीठी को गरमाओ। यह स्पष्ट है कि मैं सुस्त हूँ और अपने पड़ोसी को उसके अपने काम से हटाता हूँ। आखिकार मैं इसके लिए लज्जित होता हूँ। इसके अलावा जब मेरे रग-पट्ठे मजबूत हैं और मैं काम करने का अभ्यस्त हूँ, तो इस तरह बिना काम पड़े-पड़े मेरी तबीयत भी उकताती है, इसलिए मैं स्वयं उठकर लकड़ियाँ काटने जाता हूँ।

लेकिन विविध प्रकार की गुलामी की प्रथा इतनी मुद्दत से चली आती है और उसके कारण इतनी सारी कृत्रिम आवश्यकतायें पैदा हो गई हैं, और जो लोग कम अथवा अधिक परिणाम में इन आवश्यकताओं के अभ्यस्त हैं उनका सम्बन्ध परस्पर इतना गुम्फित है, कि कितनी ही पीढ़ियों से बिगड़ते-बिगड़ते लोग

सत्त्वहीन हो गये हैं और विलासिता तथा आलस्य के लिए तथा उनके द्वारा होने वाले प्रलोभनों के लिए मनुष्यों ने ऐसी-ऐसी बातें ढूँढ निकाली हैं कि जो मनुष्य आलसी लोगों के 'पिरामिड' की चोटी पार होता है उसके लिए तो उस किसान की तरह कि जो अपनी अंगीठी जलाने के लिए अपने पड़ोसी को मजबूर करता है अपने पाप को समझ लेना भी सरल नहीं है।

जो लोग चोटी पर हैं उनको यह समझना भी बड़ा कठिन होता है कि वास्तव में उनका कर्तव्य क्या है। लोग जब असत्य के ढेर की चोटी से, जहाँ वे खड़े हैं, पृथ्वी के उस स्थल की ओर देखते हैं कि जहाँ फिर से जीवन प्रारम्भ करने के लिए उन्हें उतर कर जाना है—साधुता पूर्ण और धार्मिक जीवन नहीं, केवल ऐसा जीवन प्रारम्भ करने के लिए कि जो नितान्त ही असामुषीय न हो—तो उनका दिमाग चकरा जाता है और यही कारण है कि यह सीधा और स्पष्ट सत्य लोगों को इतना विचित्र मालूम होता है।

जिस आदमी के पास वर्दी-धारी दस नौकर हैं, कोचमैन और रसोइये हैं तस्वीरें और 'पियानो' हैं, उसे तो सचमुच ही यह बात बड़ी अजीब और हास्यास्पद मालूम होगी कि मनुष्य का—मैं नहीं कहता कि अच्छे आदमी का; बल्कि प्रत्येक ऐसे मनुष्य का कि जो बिलकुल ही पशु नहीं है—यह प्रथम धर्म है कि वह

अपनी लकड़ी स्वयं काट कर लाये, जिससे उसका खाना पकता है और जिससे उसे गरमी पहुँचती है; अपने जूते स्वयं साफ करे, जिन्हें उसने लापर्वाही से कीचड़ में घुस कर मैला कर दिया है; अपने नहाने के लिये अपना पानी खुद भर लाये और नहा कर जिस पानी को मैला कर दिया है उसे वह खुद उठा कर फेंक आये।

किन्तु सत्य से दूर रहने के अतिरिक्त एक और भी कारण है, जो मनुष्यों को अपना काम स्वयं अपने हाथ से करने के स्वाभाविक और सीधे-सादे धर्म को समझने नहीं देता। हमारे समाज की जटिलता और जिन अवस्थाओं में धनी पुरुष अपना जीवन व्यतीत करता है उनका परस्पर निगूढ़ सम्बन्ध ही वह कारण है।

आज सवेरे मैं उस दालान में गया, जहाँ से मकान में बनी हुई अंगीठियों में अग्नि प्रज्वलित की जाती है। एक किसान उस अंगीठी को सुलगा रहा था, जिससे मेरे लड़के का कमरा गरम रहता है। मैं उसके शयनागार में घुसा। वह अभी पड़ा सो रहा था और सुबह के ग्यारह बज चुके थे। बहाना यह था—'आज छुट्टी है, पढ़ाई न होगी'। १८ वर्ष का तन्दुरुस्त मजबूत छोकरा, जिसने पिछली रात को आवश्यकता से अधिक खाया है, ११ बजे तक पड़ा सो रहा है और उसकी ही उम्र का एक किसान

सवेरे-सवेरे ही बहुत-सा काम करके अब दसवीं अंगीठी सुलगा रहा था ! मैंने सोचा—'अच्छा हो कि यह किसान इस हट्टे-कट्टे काहिल छोकरे का गरमाने वाली अंगीठी को न सुलगाये।' किन्तु उसी समय ध्यान आया कि इसी अंगीठी से हमारे घर की रसोइन के कमरे को भी गरमी पहुँचती है। वह एक चालीस वर्ष की स्त्री है, और रात को मेरे लड़के ने जो खाना उड़ाया था उसको तैयार करने और बरतन माँजने में सवेरे तीन बजे तक लगी रही और इसके बावजूद भी वह सात बजे उठ बैठी। वह अपनी अंगीठी स्वयं नहीं सुलगा सकती, उसके पास समय नहीं है। किसान उसके लिए भी अंगीठी सुलगा रहा था और उसके नाम पर मेरा यह सुस्त छोकरा भी गरमाया जा रहा था।

यह ठीक है कि इस प्रकार लोगों के लाभ परस्पर गुम्फित हैं, किन्तु बिना अधिक विचार किये ही प्रत्येक मनुष्य का अन्तःकरण स्वयं कह देगा कि मेहनत कौन करता है और सुस्त कौन पड़ा रहता है ? किन्तु केवल अन्तःकरण ही यह बात नहीं बतलाता है, हमारी हिसाब की नोटबुक भी यह बतला देता है। हम जितना अधिक रुपया खर्च करते हैं उतने ही अधिक लोग हमारे लिए काम करते हैं, और हम जितना ही कम खर्च करते हैं उतना ही अधिक हम अपना काम अपने आप करते हैं। "मेरी विलासिता से दूसरों की रोजी चलती है। यदि मैं अपने

सईस को छुट्टी दे दूँ तो वह बेचारा बूढ़ा आदमी कहाँ जायगा ?" 'क्या प्रत्येक मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करे ? अपना कोट भी बनाये और अपनी लकड़ियाँ भी चीरे ? तब फिर श्रम-विभाग का क्या होगा और उद्योग-धन्धे तथा सामाजिक काम कहाँ जायँगे ?' और सबके अन्त में आकर खड़े होते हैं वे महा-भयानक शब्द—सभ्यता, विज्ञान और कला !

गत मार्च महीने में रात को कुछ देर से मैं घर जा रहा था। गली में घुसने पर दूर के एक खेत में बरफ के ऊपर काली-काली परछाइयाँ-सी मुझे दिखाई थीं। मेरा ध्यान उधर न जाता, यदि गली के किनारे पर खड़े हुए सिपाही ने उन परछाइयों की ओर देखते हुए चिल्ला कर न कहा होता।

"वासिली ! तुम आते क्यों नहीं ?"

एक आवाज ने जवाब दिया, "यह चलती ही नहीं"। और इसके बाद परछाइयाँ सिपाही की ओर आती हुई दिखाई दीं। मैं ठहर गया और सिपाही से पूछा—

"क्या मामला है ?"

उसने कहा—"जनोफ़-गृह से कुछ लड़कियाँ लाये हैं और उन्हें कोतवाली लिये जा रहे हैं; उनमें से एक पीछे रह गई है, वह चलती ही नहीं है।"

भेड़ की खाल का कोट पहने एक चौकीदार अब दिखाई पड़ा। उसके आगे-आगे एक लड़की आ रही थी, जिसे वह पीछे से ढकेल रहा था। मैं, चौकीदार और सिपाही जाड़े के कोट पहने हुए थे, केवल उस लड़की ही के पास कोट नहीं था, वह 'गाउन' पहने हुई थी। अन्धेरे में मैं सिर्फ इतना मालूम कर सका कि उसकी पोशाक का रंग भूरा है और उसके सिर और गर्दन पर एक रूमाल लिपटा हुआ है। उसका क़द छोटा और शरीर चौड़ा और बेडौल था।

सिपाही ने चिल्लाकर कहा—"अरी ओ शैतान की बच्ची! हम तेरे लिए क्या रात-भर यहाँ खड़े रहेंगे? चलती है कि मैं अभी बताऊँ?" मालूम होता था कि सिपाही थक कर परेशान हो गया। वह कुछ दूर चली और फिर ठहर गई। बूढ़े चौकीदार ने उसे हाथ पकड़ कर खींचा। वह नेक आदमी था, मैं उसे जानता था। क्रोध कासा भाव धारण करके उसने कहा, "सुनती है कि नहीं! बस चली चल।" वह लड़खड़ाई और घुटी हुई भर्राई आवाज में बोली—"रहने दो, धक्का मत दो, मैं खुद चलती हूँ।"

चौकीदार ने कहा—"और कुछ नहीं, सर्दी से ठिठुर कर मर जायगी!"

"मेरे जैसी लड़की को ठण्ड नहीं लगती। मेरे जिस्म में बहुत-सा गरम-गरम खून है।"

उसने यह बात कही तो थी हँसी में, पर उसके शब्द ऐसे मालूम पड़े, मानों वह शाप दे रही हो।

एक लैम्प के पास, जो मेरे घर के फाटक से दूर नहीं था, वह फिर खड़ी होगई, और खम्भे का सहारा लेकर अपने, ठिठुरे हाथों से जेब में कुछ ढूँढने लगी। उन्होंने फिर पुकारा, किन्तु वह ज़रा बड़बड़ाई और जेबें टटोलती रही। उसके एक हाथ में बुझी हुई सिगरेट थी और दूसरे में दियासलाई। मैं पीछे ही खड़ा था, उसके पास से होकर निकलने में या नज़दीक जाकर उसकी ओर देखने में मुझे लज्जा मालूम होती थी। किन्तु मैं इरादा करके उसके पास आया। वह खम्भे से कन्धा टेके खड़ी थी और उसपर घिसकर दियासलाई जलाने का निष्फल प्रयास कर रही थीं।

मैंने ग़ौर से उसकी ओर देखा। उसका पेट बैठा हुआ था और वह मुझे तीस वर्ष की सी मालूम पड़ती थी। उसका रंग मैला, आँखें छोटी धुँधली और शराब पीने के कारण भारी और लाल थीं। उसकी नाक चपटी, होंठ टेढ़े और लार से भरे थे और

सूखे बालों का एक गुच्छा रूमाल से बाहर निकला हुआ था। उसके हाथ-पाँव छोटे पर धड़ लम्बा और चपटा था।

मैं उसके सामने खड़ा हुआ। वह मेरी ओर देख कर हँसी, मानों वह जानती थी कि मैं क्या बात सोच रहा हूँ। मुझे मालूम हुआ कि मुझे उससे कुछ कहना चाहिए। मैं उसे यह दिखलाना चाहता था कि मैं उसपर दया करता हूँ।

मैंने पूछा—"क्या तुम्हारे माँ-बाप हैं ?"

वह बैठे हुए गले से हँसी और फिर एकाएक रुककर अपनी भौंहों को उठाकर निर्निमेष भाव से मेरी ओर देखने लगी।

मैंने फिर पूछा—"क्या तुम्हारे माँ-बाप हैं ?"

वह मुँह सिकोड़ कर हँसी, मानों वह कह रही थी—'यह भी तुम्हारे पूछने लायक कोई सवाल है ?'

आखिरकार वह बोली—"मेरी माँ है, किन्तु इससे तुम्हें क्या मतलब ?"

"तुम्हारी उम्र क्या है ?"

"पन्द्रह वर्ष से कुछ ऊपर, सोलहवाँ साल लगा है—उसने तुरन्त ही जवाब दिया, क्योंकि वह यह प्रश्न सुनने की अभ्यस्त थी।

"चल-चल; आगे बढ़, हम यहाँ तेरे मारे सर्दी खा रहे हैं।" सिपाही ने डाटकर कहा। वह खम्भे को छोड़कर लड़खड़ाती हुई गली-गली कोतवाली की ओर चली, और मैं फाटक की ओर

मुड़कर अपने घर में दाखिल हुआ और दर्याफ्त किया कि क्या मेरी लड़कियाँ घर में हैं ? मुझे बताया गया कि वे किसी महफ़िल में गई थीं, जहाँ उन्हें बड़ा आनन्द आया और अब वे सो रही हैं।

दूसरे दिन सवेरे मैं यह जानने के लिए कि उस बेचारी लड़की का क्या हुआ, कोतवाली जाने वाला था। मैं जल्दी ही जाने के लिए तैयार हुआ। इतने में एक आदमी मुझसे मिलने आया। उच्च वर्ण में अनेकों मनुष्य अभागे होते हैं, जो अपनी दुर्बलताओं के कारण गरीबी की हालत में आ पड़ते हैं और जिनकी दशा कभी तो सम्हल जाती है और कभी फिर बिगड़ जाती है। यह उसी श्रेणी का मनुष्य था। मैं उसे तीन वर्ष से जानता था, और इन तीन वर्षों में उसे कई बार अपना सर्वस्व यहाँ तक कि अपने कपड़े भी बेचने पड़े। वह रात को आजकल जनोफ़-गृह में बिताता और दिन को मेरे यहाँ रहता। मैं बाहर निकलने ही वाला था कि वह मुझे मिला और मैं कुछ कहूँ इससे पहले ही कल रात को जिनोफ़-गृह में हुई घटना का वर्णन करने लगा। अभी उसकी बात आधी भी न हो पाई थी कि वह बूढ़ा आदमी, जिसने ज़माने के बहुत-से उतार-चढ़ाव देखे थे और जिसने खुद अपनी ज़िन्दगी में बहुत-कुछ दुःख भोगा था, फूट-फूटकर रोने लगा। वह अधिक न बोल सका और उसने अपना

मुँह दूसरी ओर फेर लिया। उसने जो कहानी सुनाई थी उसकी सत्यता की जाँच मैंने घटना-स्थल पर जाकर की, जहाँ मुझे कुछ और भी बातें मालूम हुईं। मैं यहाँ पर उनका भी उल्लेख करूँगा।

निचले हिस्से के ३२ नम्बर के कमरे में, जहाँ मेरे दोस्त रहते थे, बहुत-से स्त्री-पुरुष अस्थायी रूप में रात को रहते थे, जो ५ कोपक * के लिए एक-दूसरे के साथ सो जाते थे। वहीं एक धोबिन रहती थी, जो लगभग ३० वर्ष की उम्र की थी और जिसका रंग गोरा व देखने में सुन्दर था। वह स्वभाव की शान्त और शरीर से दुर्बल थी।

इस घर की मालकिन एक नाविक की रखेल थी। गरमी में उसका प्रेमी नाव खेता था और सर्दी में वे रात को ठहरने वाले लोगों का स्थान किराये पर देकर अपनी रोजी चलाते थे। तीन कोपक में बिना तकिये के और पाँच कोपक में तकिया-सहित स्थान देते थे।

वह धोबिन भी कुछ महीनों से यहीं रहती थी और बड़ी शान्त स्त्री थी, किन्तु अभी कुछ दिनों से वे लोग उसके रहने पर आपत्ति करने लगे, क्योंकि उसे खाँसी थी, जिससे दूसरों की नींद में विघ्न होता था। अस्सी वर्ष की एक बूढ़ी औरत, जो स्थायी रूप से वहीं रहती थी और जो कुछ सनकी-सी थी, खास,

* एक रूसी सिक्का।

तौर से धोबिन का रहना नापसन्द करने लगी और वह बराबर उसे तंग करती, क्योंकि धोबिन रातभर बुरी तरह खाँसती और उसे सोने न देती थी।

धोबिन बेचारी कुछ न बोलती। मकान का किराया उसपर चढ़ गया था और वह अपने को दोषी समझती थी, इसीलिए सब-कुछ बर्दाश्त करती थी। शक्ति क्षीण हो जाने से अब वह काम भी दिन-पर-दिन कम करने लगी, इसीलिए यह किराया न चुका सकती थी। पिछले हफ्ते तो वह कुछ-भी काम न कर सकी और खाँसी के कारण वहाँ के सभी निवासियों और खास कर उस बुढ़िया के लिए वह बवाल-जान हो रही थी।

चार दिन पहले घर की मालकिन ने मकान खाली करने के लिए नोटिस दिया। ६० कोपक तो उसपर चढ़े हुए थे, वह उन्हें अदा नहीं कर सकती थी, और न ऐसी कोई आशा ही थी कि वह अदा कर सकेगी; तिसपर दूसरे रहनेवाले उसके खाँसने की शिकायत करते थे।

मालकिन ने जब उस धोबिन को नोटिस दिया और उससे कहा कि यदि वह रुपया नहीं दे सकती है तो मकान खाली करदे, तब वह बुढ़िया बड़ी खुश हुई और उसे घर में से निकालकर सहन में ला खड़ा किया। धोबिन चली गई, किन्तु एक घण्टे बाद फिर वापस आगई। मालकिन का जी न हुआ कि वह उसे

फिर से चले जाने को कहे। दूसरे और तीसरे दिन भी वह वहीं रही। वह बराबर यही कहती, "मैं अब जाऊँ कहाँ ?' तीसरे दिन मालकिन का प्रेमी आया, वह मास्को का रहने वाला था और सब क़ायदे-क़ानून जानता था। वह एक सिपाही को बुला लाया। तलवार और पिस्तौल से सज्जित सिपाही ने घर में आकर शान्ति और सभ्यता के साथ धोबिन को निकालकर बाहर कर दिया।

मार्च का महीना था। सूरज निकला था, किन्तु कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। बर्फ़ गल-गलकर बह रहा था और नौकर लोग जमे हुए बर्फ़ को तोड़ रहे थे। बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ियाँ सरकती जाती थीं और पत्थरों से लगाकर आवाज पैदा करती थीं। वह धोबिन पहाड़ी के ऊपर चढ़ गई, जहाँ धूप थी। वह गिरजाघर तक पहुँची और ड्योढ़ी के पास धूप में बैठ गई। किन्तु जब सूर्य मकानों के पीछे छिपने लगा और तालाबों पर बर्फ़ की झीनी-झीनी चादर-सी बिछने लगी, तो धोबिन ठण्ड के मारे घबराई। वह उठी और धीरे-धीरे चलने लगी......किधर? घर की ओर—उसी मकान की ओर, जहाँ अभी तक रहा करती थी।

ठहर-ठहर कर दम लेते हुए जब वह जा रही थी, तो अन्धेरा होने लगा। वह फाटक तक पहुँची, अन्दर की ओर मुड़ी, कि

उसका पैर फिसल गया। वह चीख मारकर गिर पड़ी !

उधर होकर एक आदमी निकला, फिर दूसरा निकला। उन्होंने सोचा, 'यह शराब पीकर सोई होगी।' एक और मर्द उधर से होकर गुजरा और उसीसे ठुकरा गया। उसने दरबान से कहा—"फाटक पर शराब पिये हुए कोई औरत पड़ी है। मेरी तो अभी गर्दन टूटते-टूटते बची। उसे वहाँ से जरा उठवा दो।"

दरबान ने आकर देखा, धोबिन मरी पड़ी है। मेरे मित्र ने यही सब बातें सुनाई।

पाठक शायद यही समझें कि १५ वर्ष की वेश्या और धोबिन वाली बात मैंने कहां से लाकर रख दी है, किन्तु वे ऐसा न समझें। वास्तव में ये दोनों ही घटनायें एक ही रात को हुईं। मुझे तारीख तो ठीक याद नहीं, किन्तु १८८४ के मार्च का महीना था।

अपने मित्र की कही हुई कहानी सुन कर मैं कोतवाली की ओर चला और वहाँ से उस धोबिन के सम्बन्ध में सारी बातें जानने के लिए जिनोफ-गृह जाने का निश्चय किया।

मौसम सुन्दर था, धूप खिली हुई थी। छाया में कल रात की पड़ी हुई बर्फ के नीचे पानी बहता हुआ दिखाई देता था, और धूप में तथा मैदान में तो बर्फ बड़ी तेजी से पिघल रहा था।

नदी के पार बाग के वृक्ष नीले-नीले-से दिखाई देते थे, जाड़े के दिनों में भूरे रंग की होने के कारण जो चिड़ियें जल्दी दिखाई न पड़ती थीं वे अब अपने आनन्दमय कलरव से सबका ध्यान अपनी ओर खींचतीं थी। सुहावनी ऋतु देख कर मनुष्यों के हृदय में भी मौज करने की तरंगें उठती थीं किन्तु वे चिन्ताओं से घिरे हुए थे। गिरजों की घंटियाँ बज रहीं थीं, और उनके साथ ही छावनी से बन्दूकों की गोलियों की सरसराहट और निशाने पर लगने के धमाके की आवाज़ सुनाई पड़ती थी जो घण्टियों की आवाज़ के साथ मिल जाती थी।

मैं कोतवाली पहुँचा। कई हथियारबन्द सिपाही मुझे अपने अफसर के पास ले गये। वह भी तलवार और पिस्तौल से सज्जित था। उसके सामने चिथड़े पहने, थर-थर काँपता हुआ एक बुड्ढा बैठा था। दुर्बलता के कारण पूछे हुए सवालों का जवाब वह ठीक तरह नहीं दे पाता था। अपना काम निपटा कर वह मेरी ओर मुखातिब हुआ। मैंने रात वाली वेश्या के बारे में उससे पूछा। मेरी बातें ध्यान से सुन कर वह मुस्कराया। उसका मुस्कराना केवल इसीलिए नहीं था कि मैं यह बात नहीं जानता था कि वह कोतवाली क्यों लाई गई बल्कि खास कर इसलिए कि मुझे उसकी अल्प-वयस्कता पर आश्चर्य हुआ। उसने सजीव स्वर में कहा, 'अजी जनाब! कुछ तो बारह और तेरह वर्ष की

होती हैं, और चौदह वर्ष की तो अनगिनती।'

रात वाली लड़की के विषय में पूछने पर उसने कहा कि सम्भवतः वह तो कमिटी को भेज भी दी गई होगी। मैंने जब उससे पूछा कि ये लोग रात को कहाँ रक्खे जाते हैं, तो कुछ अनिश्चित-सा उत्तर देकर उसने टाल दिया। जिस खास लड़की के विषय में मैं पूछ रहा था, उसकी उसे याद न थी। क्योंकि, इस तरह अनेकों रोज ही आती हैं।

नम्बर ३२ के जिनोफ-गृह में जब मैं पहुँचा, तो मैंने देखा कि उस मरी हुई धोबिन के पास बैठा हुआ पादरी मृतक की आत्मा की संगति के लिए प्रार्थना कर रहा था। उसे उठाकर जिस तख्ते पर वह सोया करती थी उसी पर लिटा दिया था। और वहाँ के रहने वालों में, जो सभी मर-भुखे-से थे, आपस में चन्दा करके उन्होंने उसके क्रिया-कर्म का प्रबन्ध किया था। उस बुड्ढी औरत ने उसे कपड़ा पहना कर तैयार किया था। पादरी अँधेरे में कुछ पढ़ रहा था; लबादा ओढ़े हुए एक औरत मोमबत्ती थामे हुए थी, और एक दूसरी मोमबत्ती लिये एक आदमी खड़ा था, जो बढ़िया कपड़े पहने एक पूरा सद्गृहस्थ-सा मालूम पड़ता था। यह आदमी इस धोबिन का भाई था, जिसे लोग कहीं से ढूँढ कर लाये थे।

मृत स्त्री के पास से होकर मैं मालकिन के कमरे में गया

और उससे प्रश्न करने लगा। वह मेरे प्रश्नों से डरी—शायद इसलिए कि कहीं किसी बात के लिए मुझपर मुकदमा न चले; किंतु कुछ ही देर में खूब खुल कर बातें करने लगी और मुझे सब बातें बतादीं। वापस लौटते हुए मैंने मृतक शरीर की ओर देखा। मृतक सभी सुन्दर मालूम पड़ते हैं, किन्तु यह तो और भी सुन्दर और हृदय पर असर करने वाला मालूम होता था; उसका मुखड़ा सफेद और साफ था, आँखें बड़ी-बड़ी किन्तु बन्द थीं, गाल बैठे हुए, और उठी पेशानी पर खूबसूरत मुलायम बाल पड़े हुए थे। उसका चेहरा श्रमित किन्तु सदय था। दुःख का कोई चिन्ह ही न था; हाँ, कुछ आश्चर्यान्वित-सा अवश्य था। यदि जीवित लोग देखते हुए भी न देखें तो सचमुच ही वह मृतकों के लिए आश्चर्य की बात है।

इसी दिन मास्को में एक बड़ा भारी बाल-नृत्योत्सव होनेवाला था। उसी रात को आठ बजे मैं घर से बाहर निकला। मैं ऐसे मुहल्ले में रहता हूँ, जो मिलों से घिरा हुआ है। मैं जब घर से निकला तो छुट्टी की सीटी हो चुकी थी और एक सप्ताह के सतत कार्य के पश्चात् लोगों को एक दिन की छुट्टी मिली थी। कारखाने केलोग मेरे पास से गुजर रहे थे और सब के सब भट्टी और शराब की ओर जा रहे थे। बहुत से तो अभी से पीकर मतवाले हो रहे थे और कुछ औरतों के साथ थे।

हर रोज पाँच बजे मैं मिलों की सीटियाँ सुनता हूँ, जिनका अर्थ यह होता है कि स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को काम करने में लगा दिया गया। आठ बजे दूसरी सीटी होती है—इसके मानी आध घण्टे की छुट्टी। १२ बजे तीसरी सीटी—इसके अर्थ यह हैं कि भोजन के लिए एक घण्टे की मुहलत। आठ बजे रात को चौथी सीटी होती है, काम बंद हो जाता है। विचित्र दैवयोग से मेरे पड़ोस की तीनों मिलें बाल अर्थात् नृत्योपयोगी चीजें ही तैयार करती हैं।

एक कारखाने में—जो सबसे ज्यादा नजदीक है—मौजों के सिवा और कुछ नहीं बनता, सरे में रेशमी माल और तीसरे में इत्र और पोमेड।

इन सीटियों को सुनकर किसी के जी में इससे अधिक ख्याल शायद ही कोई पैदा होगा—वह देखो, सीटी बज गई; घूमने का समय हो गया।

किन्तु उनका जो वास्तविक अर्थ है, उसे भी मनुष्य को समझना होगा। सवेरे पाँच बजे जो पहली सीटी बजती है उसका यह अर्थ है कि रातभर अन्धी कोठरी में जो स्त्री और पुरुष एक-साथ पड़कर सोते थे, वे मुँह-अन्धेरे उठते हैं और जल्दी-जल्दी कारखाने की ओर जाते हैं—जहाँ उन्हें उस काम में हिस्सा लेना पड़ता है कि जिसका न तो कोई अन्त है और न जो उनके लिए

उपयोगी ही है, और फिर वहाँ गरमी और गन्दगी से भरी हुई दम घोटनेवाली हवा में बारह-बारह और कभी-कभी इससे भी अधिक घण्टों तक काम करते हैं और इस बीच में उन्हें आराम करने के लिए बहुत ही थोड़ा समय मिलता है। रात होने पर वे सो जाते हैं और फिर सवेरे उठते हैं; उठकर वही काम करते हैं कि जो वास्तव में उनके लिए कोई अर्थ ही नहीं रखता, किन्तु केवल पेट की खातिर उन्हें वह काम करना पड़ता है।

हफ्तों पर हफ्ते इसी तरह बीत जाते हैं। बीच में एक दिन छुट्टी का आता है। आज उसी तरह की छुट्टी मनाने के लिए बाहर निकलते हुए मजदूरों को मैं देखता हूँ। वे गलियों में घूमते हैं। चारों ओर सराय, होटल और स्त्रियाँ हैं। वे शराब पीकर एक दूसरे से धक्का-मुक्की करते हैं और लड़कियों को—वैसी ही लड़कियों को, जैसी कि कल रात को लोग पकड़कर कोतवाली ले गये—अपने साथ लेकर फिरते हैं। गाड़ी किराये करके वे एक होटल से दूसरे होटल को जाते हैं, एक दूसरे को गालियाँ देते हैं, और क्या-क्या बकते फिरते हैं इसका उन्हें बिलकुल ही ज्ञान नहीं होता।

पहले जब मैं इन श्रमिकों को इस तरह भटकते देखता तो मैं घृणा से एक ओर हट जाता और मन ही मन उन्हें बुरा-भला कहता; किन्तु जबसे मैं इन नित्य बोलनेवाली सीटियों का अर्थ

समझ गया हूँ, तबसे मुझे उलटा इस बात का आश्चर्य होने लगा है कि वे सभी श्रमिक उस दिन भिखारियों की अवस्था को क्यों नहीं प्राप्त हो गये कि जिनसे मास्को भरा पड़ा है, और सभी स्त्रियों की हालत उस लड़की की सी क्यों न हो गई कि जो मुझे मेरे घर के पास मिली थी ?

इस तरह ग्यारह बजे तक घूम-फिरकर मैं यह देखता रहा कि ये लोग क्या करते हैं। ११ बजे के बाद इन लोगों की हरकतें ठण्डी पड़ीं और इधर-उधर कुछ ही मतवाले फिरते हुए दिखाई देने लगे। मुझे कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष भी मिले, जिन्हें सिपाही पकड़कर कोतवाली लिये जा रहे थे।

अब हर तरफ से गाड़ियाँ निकलती हुई दिखाई दीं, जो सब की सब एक ही तरफ जा रही थीं। कोचबक्स पर एक कोचमैन होता था, जो प्रायः भेड़ के चमड़े का कोट पहने हुए होता था, और एक सईस होता था, जो टोपी ओढ़े खासा छैला-सा बना होता था। कपड़े से ढके हुए हृष्ट-पुष्ट घोड़े पंद्रह मील फी घण्टे की रफ्तार से दौड़ते जाते थे। गाड़ियों में महिलायें बैठी हुई थीं, जो शाल ओढ़े थीं और इसके लिए बहुत सतर्क थीं कि कहीं उनका साज-शृंगार बिगड़ न जाय। घोड़ों की काठियों, गाड़ियों, हिंदुस्तानी रबर के बने हुए पहियों और कोचमैनों के कोट से लेकर उनके मौजे,जूते, फूल, मखमल, दस्ताने, इत्र आदि सभी

सामान उन्हीं लोगों के बनाये हुए थे, जिनमें से कुछ तो अपने गन्दे कमरों में सो रहे थे, कुछ वास-गृहों में वेश्याओं के साथ, और कुछ कोतवाली में।

बाल में जाने वाले हम लोगों के पास से होकर गुजरते हैं और उनके पास जो चीजें होती हैं वे सब इन्हींकी बनाई होती हैं। फिर भी इनके मन में यह कल्पना तक नहीं होती कि जिस नृत्योत्सव में वे जा रहे हैं उसमें और इन मतवाले लोगों में, कि जिनको उनके कोचमैन डाटते हुए चलते हैं, कोई सम्बन्ध भी है। ये लोग नृत्योत्सव में जाकर खूब आनंद मनाते हैं। इनमें कोई बुराई नहीं है बल्कि वे जो करते हैं वह अच्छा है, ऐसी उनकी धारणा होती है। ये लोग मजे उड़ाते हैं। रात के ११ बजे से लेकर सुबह के ६ बजे तक सारी रात ये लोग आनंद-प्रमोद में मग्न रहते हैं, जब कि इनके लिए काम करने वाले बेचारे मजदूर भूखे पेट अनाथावास में पड़े रहते हैं या उस धोबिन की तरह मार्ग में सर्दी से ठिठुर-ठिठुर कर मरते हैं।

इनके नृत्योत्सव में होता क्या है ? स्त्रियाँ और कुमारिकायें अपनी छाती खुली रख कर और कृत्रिम रूप से नितम्बों को ऊँचा करके ऐसी बेहयाई से वहाँ आकर मनुष्यों के सामने खड़ी होती हैं कि जैसे कोई भी स्त्री या कन्या, जो अभी शील-

रहित नहीं हुई है, कभी किसी पुरुष के सामन आना न पसंद करेगी। इस अर्धनग्न अवस्था में खुली हुई छाती, कंधों तक नग्न हाथों के साथ और ऐसी पोशाक पहन कर जो पीछे की तरफ फूली हुई होती है किंतु नितम्ब-भाग खूब कसा हुआ होता होता है, तीव्र-तम प्रकाश में, स्त्रियाँ और कन्यायें, कि जिनका सबसे पहला गुण लज्जा की भावना को ही सदा से समझा जाता रहा है, । ऐसे अजनबी आदमियों के सामने आती हैं कि जो स्वयं दुश्शीलता-द्योतक खूब चुस्त कपड़े पहने होते हैं । ऐसी दशा में ये स्त्री और पुरुष एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं और फिर उन्मा-दक संगीत की ताल पर खूब घूम-घूमकर नाचते हैं । बूढ़ी स्त्रियाँ भी, जो प्रायः ऐसी ही अर्धनग्न अवस्था में होती हैं, वहाँ बैठी-बैठी तमाशा देखा करती हैं, और आनंद से खूब खाती और पीती हैं । वृद्ध पुरुष भी ऐसा ही करते हैं । यह ठीक ही है कि यह सब लीला रात्रि को होती है, जब कि और सब लोग सो जाते हैं और इस काण्ड को देख नहीं सकते ।

किंतु यह लीला रात्रि को जो रची जाती है वह इसलिए नहीं कि लोगों से छिपाया जाय। उनकी दृष्टि में तो उसमें छिपाने की कोई बात ही नहीं है; जो कुछ वहाँ होता है सब बड़ा सुंदर और अच्छा है,—और, इस आमोद-प्रमोद से, कि जिसमें हजारों आदमियों का यंत्रणा-पूर्ण परिश्रम लील लिया जाता है,

किसी की कुछ भी क्षति नहीं होती है बल्कि उल्टे इसीके बल पर हज़ारों आदमियों की रोज़ी चलती है !

नृत्योत्सव बड़े आनन्द से होता है, यह माना; किन्तु, यह आनंद आया कहाँ से ? थोड़ी देर के लिए इस बात को जाने दीजिए कि जिसकी कल्पना करना भी कठिन है, अर्थात् हम अभी इस बात पर विचार न करेंगे कि दुनिया में कुछ ऐसे आदमी भी हो सकते हैं कि जो इस प्रकार के आनंदोत्सव मनायें कि जिनसे दूसरों के लिए क्लेश और यंत्रणा पैदा हो। किन्तु यह बात तो निस्संदिग्ध और स्पष्ट है कि जब हम समाज में अथवा अपने लोगों में किसी ऐसे आदमी को देखते हैं, जो भूखा-प्यासा है और सर्दी से ठिठुर रहा है, तो हमें आनंद मनाते लज्जा आती है और जबतक वह भोजन नहीं कर लेता तब तक हम आनंद मनाना प्रारम्भ नहीं कर सकते।

जब हम देखते हैं कि कुछ निर्दयी शैतान छोकरे अधचिरी लकड़ी में कुत्ते की दुम को दाब देते हैं, तो हमें बड़ा बुरा लगता है और हमारी समझ में नहीं आता कि इस शरारत में इन लोगों को क्या मजा आता है ? तब फिर हम अपने आनंदोत्सव के समय ऐसे अंधे क्योंकर हो जाते हैं कि हम उस दरार को नहीं देख पाते, जिसमें हमने उन बेचारे गरीब आदमियों को दबा दिया है कि जो हमारे भोग-विलास की खातिर दुःख उठाते हैं।

हम जानते हैं कि जो स्त्रियाँ नृत्योत्सव में आती हैं और जिनमें से प्रत्येक की पोशाक की क़ीमत कम से कम १५० रूबल होगी, वे नृत्य-गृह में पैदा नहीं होतीं बल्कि गाँव में रह चुकी हैं, किसानों को देखा है, एक धाय अथवा दासी को जानती हैं, जिनके पिता और भाई ग़रीब आदमी हैं और जिनके परिश्रमी जीवन की सदा से यह साध रही है कि १५० रूबल कमा कर रहने के लिए एक छोटा-सा झोंपड़ा बनवा लें। वे यह सब जानती हैं; तब फिर वे किस तरह आनंद मनाने को तैयार होती हैं—यह जानते हुए भी कि अपने अर्धनग्न शरीर पर वे एक झोंपड़ा पहने हुए हैं कि जो उनकी दासी के भाई का जीवन-भर का स्वप्न है ?

पर मान लो कि इन्होंने इसपर कभी कोई विचार नहीं किया है। किन्तु, इतना तो उन्हें मालूम ही होना चाहिए कि, रेशम और मख़मल, मिठाई और फल, लैस, चैन और पोशाकें खुद तो कहीं पैदा ही नहीं होतीं, मनुष्यों द्वारा ही बनाई जाती हैं। और इसका भी उन्हें ज्ञान होना ही चाहिए कि इन तमाम चीज़ों को कौन बनाता है, बनाने वाले किस स्थिति में रहते हैं, और वे उन चीज़ों को बनाते क्यों हैं ? इससे भी वे अपरिचित नहीं हो सकतीं कि जिस दर्जिन को आज उन्होंने झिड़का है उसने उनकी पोशाक को प्रेम से प्रेरित होकर नहीं बनाया है और इसलिए यह बात उनके ध्यान में आये बिना नहीं रह सकती कि

उनकी चैन, फूल और मखमल के लिए जो दूसरों ने मेहनत की है वह केवल अपनी आवश्यकताओं से बाध्य होने के कारण की है।

किन्तु शायद वे ऐसे मोह में पड़ी हैं कि इन बातों का विचार ही नहीं करतीं। किन्तु कुछ भी हो, इतना तो वे अवश्य ही जानती हैं कि पाँच-छः जने, वृद्ध और कमजोर स्त्री-पुरुष, सारी रात नहीं सोये हैं और रात-भर मेरे काम में लगे रहे हैं। उनके थके हुए मुरझाये चेहरे उन्होंने देखे ही होंगे। यह भी वे जानती ही थीं कि आज रात को २८ डिगरी कोहरा पड़ रहा था और उनका कोचमैन, जो एक बूढ़ा आदमी है, इस कोहरे में सारी रात कोच-बक्स पर बैठा रहा।

पर मैं जानता हूँ कि वास्तव में वे इन बातों को देख ही नहीं सकतीं और इस नृत्योत्सव के जादू के कारण ये कन्यायें और युवतियाँ यदि इस अनर्थ को देख नहीं पातीं तो इसके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। ये बेचारे अज्ञान जीव क्या समझें इन बातों को ? वे तो उन सभी चीजों को अच्छा समझते हैं कि जिन्हें इनके बड़े-बूढ़े अच्छा बताते हैं। किन्तु वे बड़े-बूढ़े लोग अपनी इस निर्दयता के लिए क्या जवाब देते हैं ? उनके पास तो एक बना-बनाया जवाब है। वे कहते हैं—'मैं किसी को मजबूर नहीं करता। मेरे पास जो चीजें हैं उन्हें मैंने खरीदा है। सईस, दास-दासियाँ आदि को मैं नौकर रख लेता हूँ।

खरीदने और नौकर रखने में कोई दोष नहीं है। मैं जबर्दस्ती नहीं करता, मैं पैसा देता हूँ, और काम लेता हूँ। भला इसमें बुराई की क्या बात है ?'

कुछ दिन पहले मैं एक मित्र से मिलने गया। पहले कमरे से निकल कर दो स्त्रियों को एक मेज के पास काम करते देख कर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैं जानता था कि मेरा मित्र अविवाहित है। पीले वर्ण की दुबली-पतली तीस वर्ष की एक बूढ़ी-सी स्त्री कन्धे पर तौलिया डाले हाथों से जल्दी-जल्दी मेज के ऊपर कुछ काम कर रही थी। काम करते समय वह इस तरह हिलती थी, मानों इसपर भूत सवार हो। उसके सामने एक लड़की बैठी हुई थी। वह भी कुछ काम कर रही थी और उसी तरह हिल रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानों वे दोनों एक प्रकार के नृत्य-रोग से आक्रान्त हैं। वे क्या कर रही हैं, यह देखने के लिए मैं उनके पास गया। उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा और फिर पहले ही की तरह ध्यान से अपना काम करने लगीं।

उनके सामने तम्बाकू और सिगरेटों का ढेर था। स्त्री हाथों से तम्बाकू को मल कर मशीन से ट्यूब (Tube) में भर कर उसे लड़की की तरफ फेंक देती थी और लड़की कागज़ को ठीक करके सिगरेट पर लपेट कर एक तरफ फेंक देती और फिर दूसरी सिगरेट

लेती। यह सब इतनी तेजी और होशियारी से होता था कि उसका वर्णन करना मुश्किल है। उनकी इस फुर्ती पर मैंने आश्चर्य प्रकट किया, तो उस औरत ने कहा—

'मैं चौदह वर्ष से यह काम करती हूँ।'

मैंने पूछा—'क्या यह काम बहुत कठिन है ?'

वह बोली—'हाँ, मेरी छाती दुखती है और तम्बाकू के कारण दम घुटता है।'

किन्तु यह सब कहने की उसे जरूरत न थी, उसे अथवा लड़की को एक नजर देखते ही यह सब स्पष्ट हो जाता है। लड़की तीन वर्षों से इस काम पर थी। उसे देखकर कोई भी यह कहे बिना नहीं रह सकता था कि उसका मजबूत शरीर धीरे-धीरे घुनना शुरू हो गया है।

मेरा मित्र एक उदार और दयालु प्रकृति का मनुष्य है। उसने इन लोगों को सिगरेट बनाने के लिए रख छोड़ा है। एक हजार सिगरेट के लिए वह ढाई पौण्ड देता है। उसके पास रुपया है और वह उनसे काम लेकर उन्हें मजदूरी दे देता है, इसमें कौन-सी बुराई है ?

मेरे यह मित्र १२ बजे सोकर उठते हैं। शाम के ६ से लेकर रात के २ बजे तक वह ताश खेलने अथवा प्यानो बजाने में लगे रहते हैं। वप खूब मजे से खाते और पीते हैं और उनका

सारा काम दूसरे लोग उनके लिए कर देते हैं। अब उन्हें सिगरेट पीने का नया शौक़ पैदा हुआ है। मुझे याद है कि उन्हें यह चस्का कैसे लगा था।

हम देखते हैं कि यहाँ एक स्त्री और एक लड़की हैं, जो मशीन की तरह काम करती हैं और जो तमाम दिन तम्बाकू के छत्ते में बिता कर अपनी जिन्दगी खराब कर रही हैं—केवल पेट की खातिर। दूसरी ओर हमारे मित्र हैं, जिनके पास काफी रुपया है, जिसे उन्होंने स्वयं पैदा नहीं किया है और जो अपने लिए सिगरेट बनाने की अपेक्षा ताश खेलना पसन्द करते हैं। यह रुपया वे इन स्त्रियों को इसी शर्त पर देते हैं कि ये उनके लिए सिगरेट बनाया करें और उसी तरह अपने शरीर का नाश करती रहें।

मैं सफ़ाई का शौक़ीन हूँ और मैं अपना रुपया इस शर्त पर देता हूँ कि धोबिन मेरे कपड़ों को धोया करे, जिन्हें मैं दिन में दो बार बदलता हूँ; और कपड़े धोते-धोते बेचारी धोबिन घुल गई और आख़िरकार मर गई। इसमें किसी का क्या दोष?

'जो लोग दूसरों को मज़दूरी देकर नौकर रखते हैं वे तो ऐसा करते ही रहेंगे—मैं चाहे करूँ या न करूँ; वे दूसरे लोगों से मख़मल और मिठाइयाँ बनवायँगे और उन्हें खरीद कर काम में लायेंगे—मैं चाहे ऐसा करूँ या न करूँ। इसी तरह अपनी सिग-

रेट बनाने और कपड़े धोने के लिए लोगों को वे नौकर रखते हैं वे तो ऐसा करते ही रहेंगे—मैं चाहे करूँ या न करूँ; वे दूसरे लोगों से मखमल और मिठाइयाँ बनवायँगे और उन्हें खरीद कर काम में लायँगे—मैं चाहे ऐसा करूँ या न करूँ। इसी तरह अपनी सिगरेट बनाने और कपड़े धोने के लिए लोगों को वे नौकर रक्खेंगे ही। तब फिर मैं ही क्यों अपने को मखमल, मिष्टान्न, सिगरेट और साफ कपड़ों के उपभोग से वञ्चित रक्खूँ, जब कि उनका निर्माण बराबर हो ही रहा है ?' मैं प्रायः सदा ही इस प्रकार का तर्क सुना करता हूँ।

किन्तु यह तर्क वैसा ही है, जैसा कि क्रोधोन्मत्त और विनाश करने पर तुली हुई लोगों की भीड़ तर्क करती है। यह वही प्रवृत्ति है कि जो कुत्तों के उस झुण्ड का संचालन करती है कि जिसमें का एक कुत्ता दूसरे पर टूट पड़ता है तो दूसरे कुत्ते उसे भभोड़ डालने को दौड़ते हैं। दूसरे लोगों ने काम शुरू कर दिया है, कुछ हानि पहुँचा भी चुके, फिर मैं भी क्यों न वैसा ही करूँ ? यदि मैं अकेला अपने कपड़े आह साफ़ करलूँ या अपने लिए सिगरेटें बना लूँ तो इससे क्या होगा ? इससे क्या किसी-को कुछ लाभ हो सकता है ?'—यह प्रश्न है, जो वे लोग करते हैं कि जो अपनी वर्तमान परिस्थिति में परिवर्तन करना नहीं चाहते।

यदि हम सत्य से इतनी दूर न जा पड़े होते, तो इस प्रश्न

को करते और उसका जवाब देते हुए हमें लज्जा आती। किन्तु हम ऐसे चक्कर में पड़े हैं और हम ऐसी स्थिति में जा पहुँचे हैं कि इस प्रकार का प्रश्न हमें अस्वाभाविक मालूम पड़ता है; और इसी कारण, यद्यपि मुझे इसकी चर्चा करते हुए लज्जा मालूम पड़ती है फिर भी, मुझे इसका उत्तर देना ही पड़ेगा।

मैं पूछता हूँ, भला क्या अन्तर होगा, यदि मैं अपने कपड़े रोज़ न बदलकर हफ्ते में बदलूँ और अपनी सिगरेटें खुद बनालूँ या सिगरेट पीना ही छोड़ दूँ?

अन्तर यह होगा कि एक धोबिन और सिगरेट बनानेवाली को कुछ कम श्रम करना पड़ेगा और पहले जो मैं धुलाई अथवा सिगरेट-बनवाई के रूप में देता था वह अब मैं उन्हीं अथवा दूसरी किन्हीं स्त्रियों को दे दिया करूँगा; और मजदूर लोग जो काम करते-करते थक जाते हैं, शरीर से अधिक काम न करेंगे और उन्हें आराम तथा जलपान करने का अवसर मिल सकेगा। किन्तु अमीर और भोग-विलास में लिप्त लोगों को मैंने इसपर भी आपत्ति करते देखा है।

वे कहते हैं—'यदि मैं अपने कपड़े स्वयं धोऊँ और सिगरेट पीना छोड़ दूँ और वह रुपया जो इस तरह बचाता हूँ गरीबों को दे दूँ, तब भी वह रुपया उनके पास न रहने पावेगा और फिर सागर में एक बूँद की तरह मेरी रकम से हो भी क्या सकेगा?'

मुझे इस दलील का उत्तर देते हुए बड़ी लज्जा मालूम होती है; पर इसका उत्तर दिये बिना छुटकारा नहीं, क्योंकि यह दलील बहुधा बहुत-से लोग दिया करते हैं। इसका उत्तर बिलकुल सीधा है।

मैं किसी जंगली जाति में जाऊँ और वहाँ लोग मुझे माँस खाने को दें। यह माँस मुझे लगे भी स्वादिष्ट। किन्तु दूसरे दिन मुझे मालूम हो, अथवा मैं स्वयं अपनी आँखों से देखूँ, कि यह स्वादिष्ट चीज़ आदमी के माँस की बनी हुई है, जो एक क़ैदी को मारकर बनाई गई है, और यदि मैं मनुष्य का मांस खाना बुरा समझता हूँ, तो वे माँस के टुकड़े खाने में चाहे कितने ही स्वादिष्ट मालूम हों और जिन लोगों में मैं रहता हूँ, उनमें मनुष्य का माँस खाने का कितना ही अधिक रिवाज हो, और उन टुकड़ों को केवल न खाने से उन क़ैदियों को-जिन्हें मारकर ये टुकड़े तैयार किये जाते हैं-चाहे कितना ही थोड़ा लाभ क्यों न हो—मैं उन टुकड़ों को कभी न खाऊँगा, मुझसे वे खाये ही न जायँगे।

यह सम्भव है कि और कुछ न मिलने की हालत में भूख से मजबूर होकर मैं मनुष्य का माँस खा लूँ; किन्तु मैं उसे खुशी से न खाऊँगा, और न ऐसी दावतों में शरीक होऊँगा कि जिनमें मनुष्य का माँस होगा, और न ऐसी दावतों को ढूँढ़ता फिरूँगा, और न मैं इस बात का गर्व करूँगा कि मैं ऐसे भोज में सम्मिलित हुआ।

परन्तु हम क्या करें ? यह सब कुछ हमने तो किया नहीं । और यह यदि हमने नहीं किया है तो फिर किसने किया ? हम कहते हैं कि यह हमने नहीं किया, यह तो अपने आप ही होगया । बच्चे जब किसी चीज़ को तोड़ डालते हैं तो वे इसी तरह कहते हैं—'यह टूट गई ।' हम कहते हैं कि जबतक शहरों का अस्तित्व है और हम उनमें रहते हैं तबतक लोगों को मजदूरी की एवज़ पैसा देकर उनका पालन-पोषण करते हैं । किन्तु यह बात सच नहीं है और इसे समझने के लिए हमें सिर्फ इस बात की ओर ध्यान देने की जरूरत है कि हम गाँव में किस तरह से रहते है और वहाँ हम गरीबों की किस तरह मदद करते हैं ।

शीत ऋतु समाप्त हो रही है और ईस्टर आने वाला है। शहरों में तो धनवालों का वही राग-रंग हो रहा है। उद्यानों में और उपवनों में, घाटों पर, जहाँ देखो, नाच-गान, नाटक घुड़दौड़, रोशनी और आतिशवाजी का दौरदौरा है। किन्तु गाँवों में इससे भी अच्छा है—वहाँ वायु शुद्ध है, वृक्ष, खेत और धूल अधिक तरोताज़ा है। जहाँ प्रकृति यौवन के पूर्ण उभार पर है, जहाँ सब कुछ हरा-भरा और फला-फूला है, वहाँ चल कर रहना चाहिए—यह सोच कर हम लोग, जो दूसरों के परिश्रम पर जीने के अभ्यासी हैं, शुद्ध वायु का सेवन करने और हरे-भरे खेतों और जंगल की हरियाली देखने के लिए गाँवों में जाते हैं।

यहाँ, गावों में, उन गरीब आदमियों के मध्य ये धनिक आकर बसते हैं कि जो, ज्वार, बाजरे की रोटी और प्याज के टुकड़े पर रहते हैं, रोज १८ घंटे काम करते हैं, और तिस-पर न तो उन्हें पूरी नींद मिलती है, और न पहनने को पूरे कपड़े। यहाँ किसी प्रकार का कोई प्रलोभन नहीं है; यहाँ न कल-कारखाने हैं, न बेकार लोग, जो शहरों में बहुतायत से पाये जाते हैं। इसलिए दूसरों को काम में लगाकर हम उसका पोषण करते हैं, ऐसा मान लेने का यहाँ कोई अवसर नहीं है। यहाँ लोगों को अपना निज का इतना काम रहता है कि समय पर वे उसे ही पूरा नहीं कर पाते बल्कि अक्सर आदमियों की कमी से बहुत-

सा माल खराब हो जाता है और बहुत-से मर्द, बच्चे, वृद्ध और गर्भवती स्त्रियाँ प्रायः अपनी शक्ति से अधिक काम करती हैं।

अच्छा तो सुनिए, अमीर लोग यहाँ गाँवों में आकर किस तरह रहते हैं। यदि पुराने जमाने का बना हुआ कोई मकान वहाँ हुआ तो उसकी मरम्मत और सफाई होती है और उसे फिर से सजाया जाता है। और यदि कोई पुराना मकान न हुआ तो दुमंजिला अथवा तिमंजिला नया शानदार मकान बनाया जाता है और उसे क़ीमती सामान से सजाया जाता है। फिर मकान के पास सड़कें बनाई जाती हैं, फुलवारी लगाई जाती है, और सब तरह की आशायश का प्रबन्ध किया जाता है। सबपर रंगसजी होती है। बेचारे बूढ़े और बालक लोगों को दाल-तरकारी छौंकने को जो तेल नहीं मिलता वही तेल यहाँ इस तरह खर्च किया जाता है। गर्ज़ कि हमारे समाज का आदमी चाहे कितना ही गरीब और उदार विचारों का क्यों न हो, वह गाँव में सदा ऐसे ही मकान में रहता है कि जिसको बनाने, सँवारने और साफ-सुथरा रखने के लिए दर्जनों आदमी चाहिएँ—हालाँ कि उनको अपने खेत की देख भाल करने के लिए ही काफी समय नहीं मिलता है।

यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि कल कारखाने पहले ही से बने हुए हैं और वे जारी रहेंगे—चाहे हम उनका उपयोग करें या न

करें हम नहीं कह सकते कि हम बेकार आदमियों की परवरिश कर रहे हैं, यहाँ तो हम केवल अपनी ही आशायश की खातिर कारखाने खोलते हैं और आस-पास के लोगों का अपने काम के लिए उपयोग करते हैं, और इस तरह हम लोगों को उस काम से हटाते हैं, जो न केवल उनके लिए बल्कि हमारे सबके लिए आवश्यक है और इस पद्धति द्वारा हम कुछ लोगों का नैतिक ह्रास करते और कुछ की जिन्दगी व तन्दुरुस्ती बरबाद कर देते हैं।

कल्पना कीजिए कि किसी गाँव में उच्च वर्ग अथवा सरकारी अफसरों का एक शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार रहता है। परिवार के सब लोग तथा मित्रगण जून के मध्य में वहाँ आकर एकत्र होते हैं, क्योंकि जून तक तो वे पढ़ने-पढ़ाने और परीक्षाओं में ही लगे रहते हैं। वे उस समय आते हैं कि जब कटाई शुरू होती है और फसल काटने और बोने के समय तक वह वहाँ रहते हैं। इस परिवार के लोग (इस समाज के प्रायः सभी लोगों की तरह) उस समय आकर गाँवों में रहते हैं कि जब जरूरी काम का समय आता है। कटाई के बाद घास इकट्ठा करने का काम होता है। सितम्बर में ये लोग शहरों को वापिस चले जाते हैं। उस समय काम समाप्त तो नहीं हो जाता, क्योंकि बौनी और आलू खोदने का काम होता रहता है, परन्तु काम की वैसी भीड़ नहीं रहती।

ये लोग जबतक गाँवों में रहते हैं तबतक बराबर उनके चारों ओर जोरों से खेती-बाड़ी के काम में किसान लोग रहते हैं। इस काम में इनको कितना परिश्रम करना पड़ता है—इसके विषय में हम चाहे कितना सुनें, चाहे कितना पढ़ें, और चाहे कितना आँखों से देखें, ठीक अन्दाज नहीं लगा सकते, जबतक हम स्वयं काम करके उसका अनुभव न करें।

लगभग १० मनुष्यों का यह कुटुम्ब शहर में जिस तरह रहता है उसी तरह अथवा उससे भी खराब ढंग से यहाँ रहता है। यहाँ गाँव में तो वे आराम करने के विचार से (कुछ काम किये बिना ही) आते हैं इसलिए यहाँ वे काम का नाम भी नहीं लेते।

ग्रीष्म ऋतु में लेन्ट के उपवास के समय में चराने का काम शुरू होता है और उस समय बेचारे किसान 'क्वास' * रोटी और प्याज पर गुजर करते हैं। गाँव में रहने के लिए आये हुए नागरिक लोग इस काम को देखते हैं; कभी अपने लोगों को उस काम को करने के लिए कहते हैं और उसका आनन्द लेते हैं। घास की भीनी-भीनी गन्ध, स्त्रियों के गीत, हँसियों के चलने की आवाज और काटने वाले लोगों की कतार का दृश्य और स्त्रियों का घास इकट्ठे करने का ढंग—यह सब उनके प्रमोद की सामग्री होती है।

---

* घर पर बनाया हुआ एक सस्ता रूसी पान।

यह सब वे अपने घर के पास देखते हैं और इन बातों का आनन्द वे उस समय भी लेते हैं, जब अपने घर के छोटे-बड़े बालकों को साथ लेकर-जो दिन भर कोई काम नहीं करते हैं-चन्द सौ गज के फासले पर नहाने के स्थान पर जाने के लिए मोटे-ताजे घोड़ों की जोड़ी में सवार हो कर जाते हैं।

कटाई का काम दुनिया में बहुत महत्वपूर्ण है। प्रायः हर साल ही आदमियों की कमी और समयाभाव के कारण कटाई का काम अधूरा ही रह जाता है और इसी तरह घास अधकटी रह जाती है और बरसात आ जाती है। मजदूरी की कमी-बेशीके ऊपर यह निर्भर रहता है कि २० फी सदी अथवा इससे भी अधिक वृद्धि दुनिया के भण्डार में होगी अथवा यह घास योंही खड़ी-खड़ी सड़ जायगी।

और यदि घास अधिक हो तो वृद्धों के खाने के लिए मांस और बच्चों के पीने के लिए दूध भी अधिक परिमाण में मिले। इस प्रकार इसका असर सभी पर पड़ता है, पर खास कर किसानों के लिए उन्हीं दिनों इस प्रश्न का निर्णय हो जाता है कि जाड़े में उसको और उसके बच्चों को रोटी और दूध किस परिमाण में मिल सकेगा। काम करने वाले सभी स्त्री-पुरुष इस बात को जानते हैं और बालक भी जानते हैं कि यह काम बहुत ही जरूरी है और वे अपने पिता के लिए खेत पर 'कास' का

घड़ा ले जाने का काम करते हैं। भारी घड़े को एक हाथ से दूसरे हाथ में बदलते हुए पिता नाराज न हों इसलिए समय पर पहुँचने के लिए दो-दो मील नंगे पाँव दौड़ते हुए जाते हैं। सब जानते हैं कि कटाई के समय से लेकर जबतक फसल कट कर घर में न पहुँच जाय तबतक काम बन्द करके दम लेने की फुर्सत नहीं है।

इसके अलावा हरएक को कुछ-न-कुछ और भी काम होता है। उन्हें नया खेत जोतना और पटेला देना होता है। स्त्रियों को रोटी बनाने, कपड़ा धोने के सिवा कातना-बुनना भी पड़ता है। पुरुषों को बाजार और शहर में जाना पड़ता है, समाज सम्बन्धी काम देखने होते हैं, कचहरी जाना पड़ता है, सरकारी अफसरों के लिए सवारियों का इन्तजाम करना पड़ता है, और रात में घोड़ों को चराना होता है। बूढ़े, बच्चे, बीमार, सभी को अपनी पूरी शक्ति-भर काम करना पड़ता है। किसान लोग इतनी मेहनत से काम करते हैं कि अन्तिम कतार काटने वाले-जिनमें बीमार, बूढ़े और बच्चे भी होते हैं-इतने थक जाते हैं कि थोड़ा-सा सुस्ताने के बाद काम करने में बड़ी पीड़ा होती है। गर्भवती और बच्चे वाली स्त्रियाँ भी कड़ी मेहनत करती हैं।

काम बड़ी मशक्कत का है और लगातार होता है। सब आदमी पूरी शक्ति से काम करते हैं। इस काम के समय अपने

अपूर्ण भोजन से जो शक्ति उन्हें मिलती है वह तो खर्च हो ही जाती है परन्तु पुरानी पूँजी भी व्यय कर डालते हैं। एक तो वैसे भी ये लोग बहुत मोटे और तगड़े नहीं होते, पर इस फ़सल के मौसम पर सभी लोग अधिक मेहनत के कारण दुबले हो जाते हैं।

तीन किसानों की एक छोटी-सी टोली कटाई का काम कर रही है। उनमें एक वृद्ध है, एक उसका विवाहित भतीजा है, और तीसरा गाँव का मोची है, जो एक पतला किन्तु मजबूत आदमी है। उनकी आज की लुनाई पर ही उनका भविष्य निर्भर है; यह आज ही निश्चय हो जायगा कि जाड़ों में वे गाय रख सकेंगे कि नहीं और अपना कर चुका सकेंगे कि नहीं। उन्हें काम करते हुए दो सप्ताह हुए हैं। बीच में वर्षा के कारण कुछ काम में रुकावट आ गई थी। जब वर्षा बन्द हो गई और पानी सूख गया तब उन्होंने घास को इकट्ठा करने का निश्चय किया और काम जल्दी हो इसके लिए यह निश्चय किया कि एक-एक दाँती पर दो-दो स्त्रियां काम करें। वृद्ध आदमी के साथ उस की पत्नी भी आई, जिसकी उम्र पचास वर्ष की है और अधिक काम करने तथा ११ बच्चों की माँ होने के कारण बहुत थक गई है; वह बहरी भी है, पर अभी काम करने लायक है। वृद्ध के साथ उसकी १३ वर्ष की लड़की भी है, जो छोटे कद की तेज़ और मज़बूत छोटी-सी छोकरी है। भतीजे के

साथ उसकी बहू भी आई। वह लम्बे क़द की किसानों की तरह साधारणतः मजबूत जिस्म की थी। उसकी साली भी थी, जो एक सैनिक की स्त्री थी और उस समय गर्भवती थी। मोची के साथ उसकी स्त्री और उसकी सास आई। स्त्री एक दृढ़काय मजदूरनी थी और उसकी सास ८० वर्ष की एक बुढ़िया थी, जो इस समय को छोड़ कर बाकी साल-भर भीख माँग कर गुजर करती थी।

वे कतार बाँध कर काम पर जुट जाते हैं और जून मास की जलती हुई धूप में सुबह से लेकर शाम तक काम करते हैं। इस समय का प्रत्येक क्षण बहुमूल्य है। वेपानी अथवा 'क्वास' लाने के लिए भी अपना काम छोड़ना नहीं चाहते। एक छोटा बालक, जो उस बुढ़िया का नाती है, सबके लिए पानी लाता है। वह दाँतिये को हाथ से नहीं छोड़ती और उसे चालने-फिरने में बड़ी मुश्किल होती है। वह छोटा बालक जो बर्तन के बोझ से झुका जा रहा है, नंगे पैर छोटे-छोटे कदम रखकर चलता है और बर्तन को बार-बार हाथ में बदलता जाता है। छोटी लड़की भी अपने से भी अधिक भारी बोझ कन्धे पर उठाती है, थोड़ी दूर लेकर जाती है, फिर ठहर जाती है, और फिर आगे लेजाने की शक्ति न होने के कारण उसे ज़मीन पर फेंक देती है। वृद्ध की स्त्री लगातार घास इकट्ठा कर रही है, उसके सिर का रूमाल

ढीला हो गया है, और उसके उलझे हुए बाल बाहर निकल आये हैं। वह घास का गट्ठा उठाकर ले जाती है और मारे बोझ के लड़खड़ा कर चलती और बेतरह हाँफती है। मोची की माँ केवल घास इकट्ठी करती है, किन्तु यह भी उसकी शक्ति के बाहर का काम है। वृक्ष की छाल के जूते पहने वह धीरे-धीरे घसिटती है, उसकी दृष्टि बिलकुल निस्तेज है, और ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे वह बहुत बीमार अथवा मरणासन्न हो। वृद्ध जान-बूझकर उसे सब लोगों से दूर घास के ढेर के पास घास इकट्ठी करने के लिए भेजता है, ताकि वह दूसरों की देखदेखी दूना काम करने की हविस में न पड़े। किन्तु वह अपना काम छोड़ कर जाती नहीं और जबतक दूसरे लोग काम करते हैं तबतक वह भी उनके साथ उसी मुरझाई हुई निस्तेज मुखाकृति के साथ काम करती रहती है।

वृक्षों के पीछे सूरज डूब रहा है; किन्तु घास के ढेर अभी ठीक नहीं हो पाये हैं, अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

सभी महसूस करते हैं कि अब काम बन्द करने का समय आ गया है, किन्तु कोई इस बात को कहता नहीं है। सभी यह देखते हैं कि कोई दूसरा उसका जिक्र करे। अन्ततः बेचारा मोची यह देखकर कि अब उसमें शक्ति नहीं है, वृद्ध से प्रस्ताव करता है कि अब काम कल के लिए छोड़ दिया जाय। वृद्ध

इससे सहमत हो जाता है, स्त्रियाँ तुरन्त अपने कपड़े, सुराही और घास उठाने के औजार लेने के लिए दौड़ती हैं। वह बुढ़िया जहाँ खड़ी थी वहाँ बैठ जाती है औ फिर वैसी ही अर्थ-हीन दृष्टि के साथ लेट जाती है लेकिन जब औरतें जाने लगती हैं तब वह भी कराहती हुई उठती है और घसिटती हुई उनके पीछे-पीछे जाती है।

अच्छा अब जरा उस घर की ओर देखिए, जहाँ कि लोग आकर बसे हैं। उसी शाम को, जब कि थके-मांदे बुवाई करने वाले लोगों के हँसियों की खनखनाहट घर लौटते समय गाँव के पास सुनाई पड़ी, एरन पर पड़ते हुए हथोड़ों की आवाजें और उन स्त्रियों और बालिकाओं का शोरो गुल सुनाई पड़ रहा था, जो इकट्ठा करने के ओजारों को एक तरफ डाल कर गाय-बैलों को हाँक कर लाने के लिए दौड़ी जा रही थी। इन आवाजों के साथ मिलती हुई सुनाई देती हैं कुछ दूसरे ही प्रकार की आवाजें, जो शहर वालों के मकान से निकल रही हैं। 'प्यानो' बाजा बज रहा है, और क्रिकेट नामक खेल की गेंदों की तड़तड़ाहट को पार करता हुआ एक हंगेरियन संगीत का स्वर सुनाई पड़ता है। अस्तबल के सामने एक खुली हुई हवादार गाड़ी खड़ी हुई है, जिसमें चार मोटे-ताजे घोड़े जुते हुए हैं और दस मील के फासले से कुछ मेहमानों को लाने के लिए २० शिलिंग पर किराये की गई है।

गाड़ी के पास खड़े हुए घोड़े अपनी छोटी-छोटी घण्टियाँ बजाते हैं। उनके सामने घास पड़ी हुई है, जिसे वे अपने खुरों से रौंदते और इधर-उधर फैलाते हैं। यह वही घास है, जिसे किसान लोग इतनी मेहनत से इकट्ठा कर रहे थे। बाड़े में कुछ हलचल मालूम होती है। एक स्वस्थ मोटा-ताजा आदमी, जो दरबानी की सेवा बजाने के लिए दी गई लाल कमीज पहने हुए है, कोचमैनों को पुकार कर घोड़ों पर जीन कसने के लिए कह रहा है। दो किसान, जो वहाँ कोचमैनी का काम करते हैं, आवाज सुन कर अपनी कोठरी में से निकले और मजे-मजे में हाथ हिलाते हुए पुरुषों और स्त्रियों के लिए घोड़े कसने के लिए गये। घर में एक और 'पियानो' की आवाज आ रही है। यह संगीत सिखाने वाली महिला है, जो घर में रहती है और बच्चों को गाना सिखाती है। वही इस समय किसी गीत का अभ्यास कर रही है। दोनों पियानों की स्वराव-लियाँ एक दूसरे से टकरा रही हैं। घर के पास ही दो धायें घूम रही हैं। उनमें से एक बूढ़ी है, और दूसरी जवान। वे बच्चों को बिस्तर पर सुलाने को जा रही हैं। इनमें से कुछ बालक अवस्था में उन बालकों के बराबर हैं, जो कासके घड़े ले-लेकर खेत को जा रहे थे। एक धाय अंग्रेज है, वह रूसी भाषा नहीं जानती। वह इंग्लैंड से खास तौर पर बुलाई गई है—इसलिए नहीं कि उसमें कोई विशेष गुण है; बस, केवल इसलिए कि वह रूसी भाषा

नहीं जानती। जरा आगे एक फ्रांसीसी औरत है और वह भी इसी लिए नौकर रक्खी गई है कि वह रूसी भाषा नहीं जानती है। उससे आगे एक किसान दो औरतों के साथ घर के पास की फुलवारी में पानी दे रहा है। एक दूसरा किसान एक कुँअर साहब की बन्दूक साफ कर रहा है। दो औरतें धुले हुए कपड़े टोकरी में रक्खे लिये जा रही हैं—ये सब इन्हीं शरीफ-जादों के कपड़े हैं, जिन्हें वे धोकर ला रही हैं। घर के अन्दर दो स्त्रियों को जूठे बर्तन माँजने से ही फुरसत नहीं मिलती, लोग अभी-अभी भोजन करके गये हैं। और दो किसान संध्याकालीन लिबास पहने हुए जीने पर चढ़-उतर रहे हैं और चाय, काफी, शराब आदि ला-ला कर रख रहे हैं। छत पर मेज बिछा दी गई है। भोजन अभी समाप्त हुआ है और दूसरा शीघ्र ही प्रारम्भ होगा और वह चार बजे तक कभी-कभी तो ठेठ सबेरे तक जारी रहता है। कुछ लोग सिगरेट पीते हैं और ताश खेलते हैं; कुछ लोग बैठे सिगरेट पी रहे हैं और सुधार सम्बन्धी विचारों की चर्चा कर रहे हैं, और कुछ लोग ऐसे हैं, जो इधर उधर-घूमते हैं खाते हैं, पीते हैं; सिगरेट फूँकते हैं, और जब जी नहीं लगता तो गाड़ी पर सवार हो कर घूमने निकल जाते हैं।

इस घर में स्त्री-पुरुषों को मिलाकर कुल १५ आदमी हैं, जो सबके सब स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हैं। और ३० स्वस्थ्य कामकाजी

स्त्री-पुरुष उनकी सेवा में लगे रहते हैं। और यह सब लीला वहाँ गाँव में ऐसे समय में होती है, जब प्रत्येक घण्टा और बच्चे-बच्चे की सेवा अत्यन्त बहुमूल्य होती है।

जुलाई के महीने में भी धनिक-वर्ग के लोगों की यही हालत होगी, जब कि किसान लोग रात-रात भर नींद हराम करके ओट† खराब हो जाने के भय से उन्हें काटने में व्यस्त होंगे और स्त्रियाँ भी ब्राह्म-मुहूर्त से पहले ही उठकर उन्हें ओटने लगेंगी, ताकि काम समय पर समाप्त हो जाय। और इस समय भी वह बूढ़ी स्त्री जो पिछली फसल के समय अत्यधिक श्रम के कारण मरणासन्न हो गई थी, और गर्भवती स्त्रियाँ तथा छोटे-छोटे बच्चे सभी बूते से बाहर काम करेंगे। इस समय काम करनेवाले आदमियों की, घोड़ों और गाड़ियों की सख्त जरूरत होगी, क्योंकि नाज इकट्ठा करना और भर-भरकर उसे घर में लाना है। इसी नाज पर मनुष्यों का जीवन अवलम्बित है। किन्तु इसी समय धनिक लोग अपने आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, सैर-शिकार, नाटक सिनेमा आदि में मस्त रहते हैं और दूसरे लोगों को भी काम से हटाकर अपनी सेवा में लगाते हैं।

यहाँ पर तो ये धनिक लोग ऐसा नहीं कह सकते कि यह

---

† एक प्रकार का अनाज।

काम पहले ही से होता आ रहा है, इसलिए हम भी उसमें योग दे देते हैं। यहाँ तो ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो हम स्वयं ही ऐसे जीवन का सूत्रपात करते हैं और काम कर-करके खप-खपकर मरनेवाले लोगों से उनकी रोटी और मेहनत ले लेते हैं। हम बड़े आराम के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं, जैसे कि उस मरनेवाली धोबिन, उस बालिका वेश्या, सिगरेट बना-बना कर स्वास्थ्य नष्ट करनेवाली उस औरत में और हमारे चारों ओर जो लोग भर-पेट खाये बिना ही कठोर श्रम कर रहे हैं उनमें कोई सम्बन्ध ही नहीं है। हम इस बात को देखना नहीं चाहते कि यदि हमारे जैसे आलसी, विलासी और पतित जीवन बिताने वाले लोग न हों तो इन बेचारे गरीब लोगों को इस प्रकार अपनी शक्ति से कहीं अधिक मेहनत न करनी पड़े और यदि ये लोग इस प्रकार हद से ज्यादा मेहनत न करें तो हम इस प्रकार का जीवन जारी नहीं रख सकते।

हम ऐसा समझते हैं कि इन लोगों के इन प्रश्नों से और हमारे जीवन से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है—वह एक बात है और यह बिलकुल दूसरी बात, और हम जो यह जीवन बिता रहे हैं वह बिलकुल निर्दोष और पवित्र है। हम रोमन लोगों के जीवन पढ़ते हैं और ल्यूकुलस के अमानुषिक व्यवहार पर आश्चर्य करते हैं, जब हम यह देखते हैं कि वह तो बढ़िया-

बढ़िया मकान और कीमती शराब से अपने पेट को ठूँस-ठूँस कर भर रहा है और दूसरे लोग फाक़े कर रहे हैं। हम अपने दास-दासी रखने वाले पूर्वजों की बर्बरता पर स्तम्भित होते हैं, जब हम सुनते हैं कि वे नाटक और गाने में मस्त रहते थे और बाग़ या शिकार-गाह बनाने के लिए गाँव के गाँव उजाड़ देते थे। हम अपनी उच्चता के शिखर पर बैठे हुए उनकी इस प्रकार की अमानुषिकता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। पाँचवें प्रकरण में हम हस्या के इन शब्दों को पढ़ते हैं—

"उन लोगों को धिक्कार है कि जो इस प्रकार घर से घर और खेत से खेत मिला कर रखते हैं कि जरा भी जगह नहीं रहती और तुमको अकेला जंगल में जाकर रहना पड़ता है।

उनको धिक्कार है कि जो सवेरे उठते ही तेज़ शराब पीते हैं और रात को भी देर तक शराब पीने ही के लिए जागते रहते हैं।

उनके भोजों में गाने-बजाने की और शराब की भरमार रहती है, किन्तु ईश्वर के काम की ओर वे ध्यान नहीं देते हैं, और न उन्हें अपने हाथों से काम लेने की चिन्ता है।

जो लोग अभिमान में भर कर क्रूर अन्याय और ढेर का ढेर पाप कर रहे हैं उनको धिक्कार है।

जो अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा कहते हैं, जो

अन्धकार को प्रकाश और प्रकाश को अन्धकार कहते हैं, जो मधुर को कटु और कटु को तिक्त मानते हैं, उनको धिक्कार है।

जो मन ही मन अपने को बुद्धिमान समझते हैं और अपनी नजर में अपने को ज्ञानी मानते हैं, उनको धिक्कार है।

जो मदिरा पीने में बहादुर हैं और जिनकी बहादुरी शराब के प्याले भरने में खर्च होती है, उनको धिक्कार है।

और धिक्कार है उनको, जो लोभ में आकर दुष्टता को उचित बताते हैं और साधु पुरुषों को उनकी साधुता से वंचित कर देते हैं।"

हम इन शब्दों को पढ़ते हैं और समझते हैं कि हमारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

हम मैथ्यू के सुसमाचार के प्रकरण ३ सूत्र १० में पढ़ते हैं—"और अब भी वृक्ष के मूल पर कुल्हाड़ी लटक रही है और इसलिए प्रत्येक ऐसा वृक्ष जिसमें फल नहीं लगते हैं, काट डाला जाता है और आग में झोंक दिया जाता है।" हम इन शब्दों को पढ़ते हैं और बिलकुल निश्चिन्त रहते हैं। हम समझते हैं कि हम तो अच्छे फल देनेवाले अच्छे वृक्ष हैं और ये शब्द किन्हीं दूसरे बुरे आदमियों के लिए कहे गये हैं।

प्रकरण ५ सूत्र १० में हम इस्पा के शब्द पढ़ते हैं—

"इन लोगों का मन गुट्ठल कर दो, इनके कान बहरे कर दो

और इनकी आँखें बन्द कर दो। कहीं ऐसा न हो कि ये अपनी आँखों से देखले, अपने कानों से सुनलें, और अपने मन से समझ-लें और फिर अपने ढंग को बदल दें, और अच्छे बन जायँ।

तब मैंने पूछा, 'हे नाथ, मैं ऐसा कबतक करूँ' उन्होंने उत्तर दिया, जब तक कि शहर वीरान होकर बिना बस्ती के न हो जायँ, और घर बिना आदमियों के न हो जायँ और भूमि बिलकुल ऊजड़ न हो जाय।"

हम इन शब्दों को पढ़ते हैं, किन्तु अत्यन्त निश्चिन्त भाव से समझते हैं कि यह अद्भुत बात किन्हीं दूसरे लोगों के लिए है। इसलिए हम यह देख नहीं पाते कि हमारी ऐसी स्थिति हो गई है और अब भी हो रही है। हम सुनते नहीं, हम देखते नहीं, और हम अपने मन से विचार नहीं करते।

किन्तु यह सब हुआ क्यों ?

२६

एक आदमी जो अपने को मनुष्य समझता है—ईसाई न सही, शिचित और दयालु न सही, केवल अपने को एक ऐसा मनुष्य मानता है कि जो दिल और दिमाग से एक दम ही रहित नहीं है—भला वह आदमी इस प्रकार का जीवन व्यतीत करना कैसे पसन्द कर सकता है कि समस्त मानव-समाज को जो जीवन-संघर्ष करना पड़ रहा है उसमें वह कोई भाग लिये बिना ही दूसरों के परिश्रम को हड़प करता रहे और इस प्रकार भार-स्वरूप बन कर दूसरे लोगों के श्रम को बढ़ाता रहे और उन लोगों की संख्या में वृद्धि करे कि जो जीवन-संग्राम करते-करते नष्ट हुए जाते हैं ?

इस तरह के आदमी हमारे सभ्य ईसाई-संसार में भरे पड़े हैं। यही क्यों, हमारे सभ्य ईसाई-संसार का तो आदर्श ही यह हो रहा है कि जायदाद अर्थात् धन को अधिक से अधिक परिमाण में प्राप्त किया जाय कि जिससे सब प्रकार के आराम मिलते हैं, आलसी और विलासी जीवन व्यतीत करने के साधन प्राप्त होते हैं, और उन्हें जीवन-संघर्ष में भाग भी नहीं लेना पड़ता। बस, वे अपने उन भाइयों के श्रम से लाभ उठाते हैं कि जो जीवन-संघर्ष की चपेटों से विनष्ट होते हैं।

मनुष्य भयंकर भूल में कैसे पड़ गया ? उसकी यह अवस्था कैसे हुई कि वह उस बात को, जो इतनी साफ़-सीधी और निर्विवाद है, न तो देख सकता है, न सुन सकता है, और न हृदय द्वारा उसे समझ ही सकता है ?

हम चाहे ईसाई हों अथवा केवल साधारणतः दयालु और शिक्षित पुरुष, हमें क्षण-भर ठहर कर विचार करने की आवश्यकता है और फिर हम यह देखकर भयभीत हो उठेंगे कि हम जो कुछ कहते हैं और विश्वास करते हैं बिलकुल उसके विपरीत आचरण करते हैं।

परमेश्वर अथवा प्रकृति का नियम, जिसके अनुसार संसार का कार्य चल रहा है, अच्छा है या खराब, यह मैं नहीं जानता। परन्तु हम देखते हैं कि जहाँ तक हमारा ज्ञान जाता है,

संसार की ऐसी स्थिति तो है ही कि उसमें ऐसे अनेकों मनुष्य सदा से रहते आये हैं जिन्हें तन ढकने को कपड़ा नहीं मिलता, पेट भर खाने को भोजन नहीं मिलता, और जिनके पास शीत, वर्षा और आतप से बचने के लिए एक छप्पर भी नहीं है और इन सब लोगों को प्रकृति से लगातार अविरल युद्ध करना पड़ता है, ताकि वे कपड़े बनाकर अपने बदन को ढक सकें, घर की छत बनाकर धूप और वर्षा से अपनी रक्षा कर सकें और अपनी, अपने बाल-बच्चों की तथा अपने माता-पिता की दिन में दो या तीन बार क्षुधा शान्त कर सकें।

लोगों के जीवन को आप जहाँ कहीं भी देखें. यूरोप में देखें, चीन में देखें अमेरिका या रूस में देखें, इन देशों के सम्पूर्ण समाज का जीवन देखें, अथवा उनके किसी विशिष्ट भाग का जीवन देखें, फिर चाहे किसी भी समय का देखें, प्राचीनकाल के खानाबदोशों का जीवन देखें या आधुनिक समय के वाष्प और बिजली से चलने वाली मशीनों के प्रगतिशील युग के जीवन को देखें, हमें सब जगह बस वही एक बात दिखाई पड़ती है कि मनुष्य बराबर लगातार मेहनत करते हैं फिर भी उन्हें अपने लिए, अपने बाल-बच्चों के लिए तथा बड़े-बूढ़ों के लिए पर्याप्त भोजन और वस्त्र नहीं मिलता और न वे अपने रहने के लिए घर बना पाते हैं; और साथ ही हम यह देखते हैं कि मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या

पुराने जमाने में और इस समय भी, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के अभाव के कारण तथा शक्ति से परे काम करने के कारण, घुल-घुलकर मर जाती है।

हम कहीं भी रहते हों, यदि हम अपने चारों ओर एक लाख मील का, एक हज़ार, अथवा दस मील का, या केवल एक ही मील का घेरा बनालें और फिर अपने घेरे के अन्दर रहने वाले लोगों के जीवन को देखें तो हमें पता चलेगा कि भूख से अशक्त और दुर्बलेन्द्रिय बालक, बूढ़े, स्त्री और पुरुष, गर्भिणी स्त्रियाँ, रोगी और दुर्बल आदमी अपनी शक्ति से बाहर कठोर परिश्रम करते हैं और जिन्हें जीवनी-शक्ति को बनाये रखने के लिए न काफ़ी भोजन मिलता है, न काफ़ी आराम, और इसलिए अकाल ही में वे काल के शिकार हो जाते हैं; कुछ ऐसे आदमियों को भी देखेंगे कि जो अपनी भरी जवानी में ही भयंकर और हानिकारक कामों को करने के कारण मर जाते हैं।

हम देखते हैं कि जबसे संसार का प्रारम्भ हुआ तभी से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत यत्न करते हैं, दुःख और यातनायें भी सहते हैं, पर अभी तक वे अपनी इस मुश्किल को हल नहीं कर पाये। इसके अलावा हम यह भी जानते हैं कि हममें से प्रत्येक मनुष्य—फिर चाहे वह कहीं और किसी रूप में रहता हो—प्रत्येक दिन और प्रत्येक घण्टे मनुष्य-

समाज के द्वारा किये हुए परिश्रम का इच्छा अथवा अनिच्छा से, समझते-बूझते हुए अथवा अनजान में, लाभ उठाता है।

मनुष्य कहीं भी और किसी भी रूप से रहता हो पर यह निश्चित है कि उसके सिर पर जो मकान की छत है वह स्वयं नहीं बनी; चूल्हे में जलने वाली लकड़ियाँ भी अपने आप वहाँ नहीं पहुँच गईं, न पानी बिना लाये स्वयमेव आगया; और पकी हुई रोटियाँ भी आस्मान से नहीं बरसीं। उसका खाना, कपड़ा और पैरों के जूते यह सब उसके लिए बनाये गये हैं और इनके बनाने वाले वही लोग नहीं हैं जो पिछली पीढ़ियों में रहते थे और अब मर-खप गये हैं बल्कि ये सब काम उसके लिए उन लोगों के द्वारा किये जा रहे हैं कि जिनमें से सैकड़ों और हजारों अपने बाल-बच्चों के लिए भोजन, वस्त्र और मकान का प्रबन्ध करने के व्यर्थ प्रयास में—उन साधनों के जुटाने के उद्योग में कि जो उनको और उनके बच्चों को दुःख और अकाल मृत्यु से बचा सकते हैं—सूख-सूख कर और घुल-घुल कर मर जाते हैं।

सभी मनुष्यों को अभाव के साथ संघर्ष करना पड़ रहा है। और यह संघर्ष उन्हें इतनी तीव्रता से करना पड़ता है कि प्रति क्षण उनके आसपास उनके भाई-बन्धु, माँ-बाप और बाल-बच्चे नष्ट हो रहे हैं। इस संसार के लोग तूफान में पड़े हुए ऐसे जहाज के यात्रियों के समान हैं कि जिसमें खाने की सामग्री बहुत कम

है। हम सब को, ईश्वर ने कहिए अथवा प्रकृति ने, ऐसी स्थिति में रक्खा है कि हममें से प्रत्येक को अपने भोजन की प्राप्ति के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिये और अभाव के साथ सदा युद्ध करते रहना चाहिए। यदि हममें से कोई भी आदमी इस काम को न करे अथवा दूसरे लोगों की मजदूरी का इस प्रकार से उपयोग किया जाय कि जो सर्व समाज के लिए लाभदायक न हो तो यह हमारे लिए तथा सारे समाज के लिए एकसमान नाशकारी है।

यह क्या बात है कि अधिकांश शिक्षित लोग स्वयं मेहनत किये बिना ही चुपचाप दूसरे लोगों के उस श्रम से लाभ उठाते हैं कि जो स्वयं उन मेहनत करने वालों के जीवन के लिए आवश्यक है और फिर अपने इस प्रकार के जीवन को स्वाभाविक और उचित समझते हैं ?

यदि हम अपने को उस श्रम से मुक्त कर देते हैं कि जो सभी के लिए लाजिमी और स्वाभाविक है और फिर भी हम अपनेको चोर और धोखेबाज नहीं समझते हैं तो यह केवल दो बातों को फ़र्ज कर लेने से हो सकता है। एक तो यह कि जो लोग लाजिमी मेहनत करने से बचते हैं वे इन काम करने वाले लोगों से विभिन्न श्रेणी के हैं और वे समाज में और ही तरह का एक विशिष्ट काम करने के लिए पैदा हुए—अर्थात् वे मक्खी-रानी अथवा

नर-मक्खी की तरह हैं कि जिनका काम साधारण मक्खियों से जुदा है। और दूसरी यह कि हमलोग—वे आदमी, जिन्होंने अस्तित्व बनाये रखने के लिये उद्योग करने के अनिवार्य कर्तव्य से अपने को मुक्त कर दिया है—दूसरों के लिए जो काम करते हैं वे इतने सब लोगों के लिए इतने उपयोगी हैं कि हम दूसरे लोगों पर अपने हिस्से का बोझ डाल कर उन्हें जो हानि पहुँचाते हैं उसका पूरा-पूरा बदला उनके द्वारा चुका दिया जाता है।

पुराने जमाने में जो लोग दूसरे आदमियों की कमाई पर जीवित रहते थे वे अव्वल तो यह दावा करते थे कि वे एक दूसरी ही श्रेणी, दूसरी ही जाति के मनुष्य हैं, और दूसरे यह कि ईश्वर ने उन्हें एक विशिष्ट कार्य सम्पादन करने के लिए भेजा है—दूसरों का भला करने के लिए; अर्थात्, उनपर शासन करने और उन्हें शिक्षा देने के लिए। इसलिए वे दूसरों को विश्वास दिलाते थे और स्वयं भी कुछ अंश तक इस बात में विश्वास करते थे कि लोगों के उन श्रम-जनित कामों की अपेक्षा कि जिन से वे लाभ उठाते हैं स्वयं वे जो काम करते हैं वह लोगों के लिए कहीं अधिक उपयोगी और आवश्यक है।

जबतक लोगों में यह विश्वास बना रहा कि सब लोग एक-समान नहीं हैं—कुछ जातियाँ स्वभावतः ही ऊँची और श्रेष्ठ कोटि की हैं और कि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से मानव-समाज के कार्यों में

हस्तक्षेप करता है तबतक तो यह दलील चलती रही। किन्तु ईसाई-धर्म के प्रादुर्भाव और तज्जनित मानव-समाज की समानता और एकता की अनुभूति के बाद यह युक्ति अपने पूर्व रूप में पेश न की जा सकी। इस बात का दावा करना अब सम्भव न था कि कुछ मनुष्य जन्म से ही विशिष्ट कोटि के होते हैं और ईश्वर ने उन्हें विशिष्ट कार्य सौंपा है। यह दलील पेश करने वाले अब भी कहीं-कहीं हैं सही, पर धीरे-धीरे यह दलील मिटती जा रही है और करीब-करीब बिलकुल ही मिट चुकी है।

किन्तु यद्यपि यह दलील नहीं रही है फिर भी यह बात तो अभीतक वैसी ही बनी हुई है—जिन लोगों में अपनी बात मनवाने की शक्ति है वे अब भी मेहनत-मजदूरी करने के कर्तव्य से अपने को मुक्त करके दूसरों की कमाई का उपभोग करते हैं। और इस स्थिति का बचाव करने के लिए बराबर नये-नये बहाने गढ़े जाते हैं, ताकि मानव-प्राणियों की असमानता और विभिन्नता पर जोर दिये बिना ही जाहिरा औचित्य के साथ वे अपने को शारीरिक श्रम के बन्धन से मुक्त कर सकें।

इस बात के लिए अनेकों दलीलें निकाली गई हैं। यह बात कितनी ही विचित्र क्यों न लगे; किन्तु उन सब बातों का मुख्य उद्देश्य जो विज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हैं, और स्वतः विज्ञान की मुख्य प्रवृत्ति यही है कि श्रम-बन्धन से मुक्त होने की दलीलें सोच

निकाली जायँ। धर्म-विज्ञान और कायदा-कानून सम्बन्धी विज्ञान का यही उद्देश्य रहा है; तत्त्व-ज्ञान के नाम से पुकारे जाने वाले शास्त्र का भी यही उद्देश्य था; और आजकल के नये भौतिक विज्ञान का भी यही लक्ष्य हो रहा है।

किसी सम्प्रदाय विशेष अथवा किसी खास चर्च के मानने वाले लोग ही ईसामसीह के सच्चे अनुयायी हैं और इसलिए मनुष्यों की आत्मा और शरीर के ऊपर उसी सम्प्रदाय अथवा चर्च का सम्पूर्ण और अमर्यादित अधिकार है, यह साबित करने का यत्न करने वाले धर्मशास्त्रों के सूक्ष्म विश्लेषणों का भी यही मुख्य हेतु है।

क़ायदा-कानून से सम्बन्ध रखने वाले सभी विज्ञान—राज्य-संचालन सम्बन्धी, फौजदारी, दीवानी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नियम इसी बात के लिए है। तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अनेक मत, खास कर हेगल का मत—जो बहुत समय तक मनुष्यों के दिमाग पर शासन करता रहा—यही बात सिद्ध करना चाहता था। वह यह प्रतिपादित करता था कि इस समय जो स्थिति है वह ठीक ही है और कि मानवी शक्तियों के विकास के लिए राज्य-तंत्र एक आवश्यक पद्धति है, कान्ट का आधिभौतिक वाद और उससे उत्पन्न होने वाला यह सिद्धान्त कि मनुष्य समाज एक विराट शरीर है, डारविन का जीवन-संघर्ष वाला सिद्धान्त जो आजकल सर्वमान्य

हो रहा है और जो मनुष्य समाज की विभिन्नता और असमानता प्रतिपादित करता है, आजकल लोगों को बहुत पसंद आने वाला मानसशास्त्र, प्राणिशास्त्र और समाजशास्त्र—इन सबका वही एक ही लक्ष्य है। ये विज्ञान लोकप्रिय हो गये हैं, क्योंकि वे वर्तमान स्थिति का समर्थन करते हैं कि जिसमें होशियार मनुष्य अपने को श्रम-बन्धन के मानवीय कर्तव्य से मुक्त करके दूसरों की कमाई का आनन्द ले सकते हैं।

ये सारे सिद्धान्त, जैसा कि सदा से होता आया है, बड़े-बड़े आचार्यों की ग़ैबी गुफाओं में गढ़े जाते और फिर अस्पष्ट-अगम्य भाषा में लोगों के अन्दर उनका प्रचार किया जाता है और लोग उन्हें स्वीकार कर लेते हैं।

पुराने जमाने में जिस तरह धर्मशास्त्र सम्बन्धी बारीकियाँ, जो चर्च और राज्य में होने वाली जबरदस्ती और हिंसा का समर्थन करती थीं, केवल पुरोहितों की ही सम्पत्ति थीं; और सर्वसाधारण में जिस तरह गढ़े-गढ़ाये सिद्धान्तों को फैलाया जाता था, जिन्हें लोग श्रद्धा-वश स्वीकार कर लेते थे और जिनसे ऐसी बातों का प्रचार किया जाता था कि राजाओं, धर्माचार्यों और अमीरों की सत्ता ईश्वर दत्त है, उसी तरह बाद को यह घोषित किया जाने लगा कि विज्ञान नाम-धारी शास्त्र की दार्शनिक और कानूनी सूक्ष्मतायें विज्ञान के पुरोहितों की एकमात्र सम्पत्ति हैं

और लोगों के अन्दर यह सिद्धान्त फैलाया जाने लगा कि हमारी सामाजिक अवस्था अर्थात् समाज का संगठन जैसा इस समय है वैसा ही होना चाहिए, इसके विपरीत और कुछ नहीं हो सकता। लोगों ने भी बिना तर्क-वितर्क किये श्रद्धा-पूर्वक उसे स्वीकार कर लिया।

यही हाल अब भी है। अब भी जीवन सम्बन्धी नियम और मानव-समाज को विस्फूर्त बनाने के तत्त्वों का विश्लेषण और मनन आधुनिक मंत्रद्रष्टाओं और आचार्यों की गुफाओं में ही किया जाता है। और जनता के अन्दर श्रद्धा और विश्वास के द्वारा स्वीकार किये जाने वाले अपने बने-बनाये विचारों का प्रचार किया जाता है—अर्थात् यह कहा जाता है श्रम-विभाग का नियम ऐसा है, जिसे विज्ञान भी सिद्ध कर सकता है; और इसलिए दुनिया में कुछ लोग ऐसे होने ही चाहिएँ कि जो भूखों मर कर भी मेहनत करें और दूसरे सदा मौज उड़ाते रहें। यही मनुष्य-जीवन का निस्सन्दिग्ध नियम है कि कुछ लोग बरबाद हों और दूसरे मजे करें और हमें इस नियम के ताबे रहना ही होगा।

रेल्वे के लोगों से लेकर लेखक या कला-कोविद तक विविध प्रकृतियों वाले जितने शिक्षित कहे जाने वाले लोग हैं उनके आलसी जीवन का एकमात्र यही बचाव है। वे कहते हैं कि हम

लोग, जिन्होंने सबके लिए एकसमान लागू होने वाले जीवन-संघर्ष के मानवीय कर्तव्य से अपने को मुक्त कर दिया है, दुनिया को उन्नत बनाने में लगे हुए हैं और इसलिए हम मानव-समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं—इतने उपयोगी कि लोगों की मेहनत का फल छीन कर हम जो हानि पहुँचाते हैं उस सब की पूर्ति हो जाती है।

पहले जमाने के आलसी लोग अपना बचाव करने के लिए जिस प्रकार जवाब देते थे उससे आजकल के लोगों का यह जवाब विभिन्न प्रकार का मालूम होता है। जिस प्रकार रोम के सम्राटों और नागरिकों को उनका यह खयाल कि उनके बिना सभ्य संसार का सर्वनाश हो जायगा; मिश्र और फारिस के लोगों के विचार से विभिन्न प्रतीत होता था, उसी तरह मध्यकालीन सामन्तों और पादरी लोगों को अपनी ठीक इसी प्रकार की विचारसरणी रोमन लोगों की भावना से बिलकुल जुदी मालूम होती थी।

किन्तु यह केवल मालूम ही पड़ती है। यह भेद ऊपरी है। आज जो दलील दी जाती है उसपर यदि हम विचार करें तो हमें मालूम हो जायगा कि उसमें कोई बात नहीं है। बस, कहने के ढंग में ही अन्तर है; किन्तु वास्तव में वह है वही, क्योंकि वह एक ही सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जो लोग बिना मेहनत किये दूसरों के श्रम से लाभ उठाते हैं—जैसे कि फैरोआ और उसके

धर्माचार्य, रोमन तथा मध्यकालीन सम्राट् और उनके नागरिक, सामन्त, पुरोहित और धर्माचार्य—इन सब के जवाब में सदा दो बातों का समावेश होता है।

एक तो यह कि हम दूसरे लोगों की मेहनत से जो लाभ उठाते हैं उसका कारण यह है कि हम विशिष्ट वर्ग के मनुष्य हैं और इन लोगों का शासन करने तथा दिव्य सत्य सिखाने का काम ईश्वर ने हमें सौंपा है।

दूसरा यह कि जिन लोगों के पास से हम श्रम-फल को ले लेते हैं वे उस भलाई का मूल्य नहीं आँक सकते कि जो हम बदले में उनके साथ करते हैं, क्योंकि फैरिसीज ने बहुत पहले यह कह रक्खा है—यह कानून से अनभिज्ञ जन-समूह शापित है (जान, ७.४९)।

लोग यह नहीं समझ सकते कि उनकी भलाई किस बात में है और इसलिए उनके साथ जो भलाई की जाती है उसका मूल्य आँकने वाले वे नहीं बन सकते।

हमारे जमाने में जो दलील पेश की जाती है उसमें नवीनता और मौलिकता दिखाई देती है सही, किन्तु वास्तव में उसके अन्दर वही दो मूल बातें समाई हुई हैं—

१. हम एक विशिष्ट वर्ग के लोग हैं—हम शिक्षित और संस्कृत हैं। हम सभ्यता के विकास और सांसारिक उन्नति में

बात का विचार किये बिना ही कि हम जो कुछ करते हैं इससे मेहनत करनेवालों को वास्तव में लाभ पहुँचता भी है कि नहीं पहले से ही यह मान बैठते हैं कि हमारे कामों से उन्हें लाभ पहुँचता है और फिर बाद में अपनी इस स्थिति के बचाव के लिए दलीलें करने बैठते हैं।

हमारे जमाने की दलील में और प्राचीनकाल की दलील में यदि कुछ अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि हम लोगों की दलील पहले के लोगों की दलील की अपेक्षा अधिक असत्य और सदोष है।

प्राचीनकाल के धर्माचार्य और सम्राट् तो अपने को दैवी पुरुष मानते थे; और लोग भी उनकी इस बात को कबूल करते थे। इसलिए वे तो बड़ी आसानी से यह कह सकते थे कि हमें दूसरों की मजदूरी से लाभ उठाने का हक है, वे तो दावा करते थे कि हमें ईश्वर ने पैदा ही इसलिए किया है और ईश्वर का यह उन्हें आदेश था कि ईश्वर की प्रेरणा से जो दिव्य सत्य उन्हें प्राप्त हों उनको जन-समूह के लिए प्रकाशित करके लोगों पर शासन करें।

किन्तु आधुनिक शिक्षित लोग जो अपने हाथ से मेहनत नहीं करते और जो सब मनुष्यों को समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, इस शंका का निराकरण नहीं कर सकते कि क्यों वे और उनके बड़े ही आराम-तलब और आलसी जीवन

व्यतीत करने के योग्य समझे जायँ, जब कि और भी करोड़ों मनुष्य इस दुनिया में हैं कि जिनमें सैकड़ों और हज़ारों लोग उनकी शिक्षा के लिए खप-खप कर मर रहे हैं। शिक्षा भी तो रुपये से होती है न ? और रुपये का अर्थ है शक्ति। तब फिर दुनियाभर के और सब लोगों को छोड़कर यही लोग उस शक्ति का उपभोग करने, शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी क्यों समझे जायँ ?

इसका एक ही उत्तर उनके पास है कि स्वयं श्रम न करके दूसरों की कमाई का उपभोग करके वे श्रमिक-वर्ग को हानि नहीं पहुँचाते, क्योंकि वे उन लोगों को कुछ ऐसे लाभ पहुँचाते हैं कि जिनको वे समझ नहीं सकते और जो इतने व्यापक और बहु-मूल्य होते हैं कि दूसरों की कमाई का उपभोग करने से जो क्षति होती है उससे उसकी पूर्ति हो जाती है।

नोट—

हेगल—(१७७०–१८३१) यह एक विख्यात जर्मन दार्शनिक था।

कान्ट—(१७९८–१८५७) यह फ्रान्स का एक प्रसिद्ध विद्वान था, जिसने समाज-शास्त्र पर एक अच्छा ग्रन्थ लिखा है। उसका कहना था कि किसी बात का विवेचन करने के लिए पहले धर्मशास्त्र की दृष्टि से उसका निरीक्षण किया जावे और फिर दर्शनशास्त्र के नियमों पर उसे कसा जाये और अन्त में उसे (Positive) इन्द्रियगम्य स्वरूप प्राप्त होता है। इन पद्धतियों को क्रमशः आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक नामों से पुकारा जा सकता है। उसका कहना था कि आधिभौतिक पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है।

छब्बीसवां परिच्छेद

डार्विन—(१८०८–१८८२) यह एक जबरदस्त विज्ञानवेत्ता हुआ है। विकासवाद का यह आचार्य था। इसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि यह सृष्टि जैसी अब है वैसी ही आरम्भ में न थी बल्कि धीरे-धीरे उसका विकास हुआ है। नाना प्रकार के पशु-पक्षी जीव-जन्तु जो आज हम देखते है ये सब एक ही समय में उत्पन्न नहीं हुए बल्कि जल-वायु, काल और अवस्था के कारण एक जीव में से उत्पन्न होकर तरह-तरह के रूपान्तर होते रहे हैं। उसका कहना था कि मनुष्य का विकास बन्दरों में से हुआ है।

डार्विन के इस सिद्धान्त ने वैज्ञानिक संसार में बड़ी हलचल मचा दी। उसने बड़ी खोज के साथ प्रमाणों पर प्रमाण देकर अपनी बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है। विकास-वाद का यह सिद्धान्त बाइबिल के सृष्टिक्रम के विरुद्ध जान पड़ता था, इसलिए ईसाई पादरियों ने डार्विन का भयंकर विरोध किया। उसे नास्तिक और धर्म-भ्रष्ट कहा गया और लोगों की ओर से उसे तरह-तरह की यातनायें दी गईं।

डार्विन का यह सिद्धान्त यद्यपि अनेक धर्म-पन्थों को मान्य नहीं है, उनकी ओर से उसका विरोध और प्रतिवाद भी हुआ है, फिर भी शिक्षित समाज पर अभी उसका अखण्ड साम्राज्य है।

फैरिसीज—ये लोग यहूदी धर्म के पण्डित समझे जाते थे। ये अपने धर्मग्रन्थों का बड़ी बारीकी से अध्ययन करते, बाल की खाल निकालते और छोटी छोटी बातों पर भी बड़ा हठ और आग्रह दिखाते। ये लोग बड़े अहम्मन्य होते और अपने को बड़ा विद्वान समझते थे।

२७
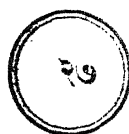
जिन लोगों ने श्रम करके कर्तव्य से अपने को मुक्त कर लिया है वे अपना बचाव किस प्रकार करते हैं, यह सीधे-सादे किन्तु समुचित शब्दों में व्यक्त करना हो तो यों व्यक्त किया जा सकता है।

हम लोग खुद काम नहीं करते और जबरदस्ती दूसरे लोगों की कमाई पर जीते हैं, किन्तु इससे हम दूसरे लोगों का उपकार करने में अधिक समर्थ हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कुछ लोग दूसरे लोगों की कमाई का जबरदस्ती उपयोग करके प्रत्यक्ष और सबकी समझ में आनेलायक हानि पहुँचाते हैं और ऐसा करके प्रकृति के साथ जो उन्हें जीवन-संघर्ष करना पड़ता है उसको और भी कठिन बना देते हैं। किन्तु ऐसा करते हुए भी

हम उनका हित ही करते हैं—वह हित ऐसा नहीं है जो लोगों को स्पष्ट दिखाई पड़े और जल्दी ही उनकी समझ में आ जाय। यह बात बड़ी विचित्र है; किन्तु पुराने जमाने के लोगों की तरह ही आजकल के लोग भी, जो श्रम न करके दूसरों के बल पर ही जीते हैं इस बात पर विश्वास करते हैं, और उससे अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेते हैं।

हमारे समय में विभिन्न वर्गों के जो लोग श्रम बन्धन छोड़ बैठे हैं उनका यह कथन कहाँ तक सत्य है, आइए जरा इसकी जाँच करें।

एक आदमी राजा, राजकर्मचारी अथवा धर्माचार्य की हैसियत से अपनी राजनैतिक अथवा धार्मिक वृत्ति द्वारा लोगों की सेवा करता है। एक आदमी अपनी विद्या अथवा कला के द्वारा लोगों को लाभ पहुँचाता है। इस प्रकार हम अपने कामों द्वारा लोगों को उतना ही लाभ पहुँचाते हैं कि जितना वे हमारा काम करते हैं।

हमारे जमाने के श्रम-धर्म पालन न करने वाले अनेकों लोग इसी प्रकार का विचार रखते हैं और उसे व्यक्त करते हैं।

अब हम एक-एक करके उन सिद्धान्तों की जाँच करते हैं कि जिनके ऊपर ये लोग अपने कामों की उपयोगिता का आधार रखते हैं।

एक आदमी दूसरे के साथ जो उपकार करता है उसकी दो कसौटियाँ हो सकती हैं। एक बाह्य—जिसे लाभ पहुँचाया जाता हो वह उस लाभ को स्वीकार करे; और दूसरी आन्तरिक—जो आदमी उपकार करना चाहता है उसके काम के मूल में उपकार करने की जो भावना है वह।

राज्य-संचालकवर्ग, जिसमें राज्य द्वारा स्थापित मठों और मन्दिरों के महन्तों का भी मैं समावेश करता हूँ, कहता है कि हम प्रजा अर्थात् सर्व-साधारण के लिए उपयोगी हैं।

सम्राट, राजा, प्रजा-सत्ताक राज्य का प्रधान, प्रधान मंत्री, न्याय-मंत्री, युद्ध-मंत्री, शिक्षा-मन्त्री, मठों के महन्त और इन सबके नीचे काम करने वाले कर्मचारी तथा नौकर-चाकर अपने को मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक श्रम-धर्म से मुक्त करके अपने भरण-पोषण का भार दूसरों पर जो डाल देते हैं उसका बस एक यही कारण है कि वे समझते हैं कि उनके कामों से मजदूरों की मेहनत का बदला चुक जाता है।

अब हम इनके दावे को पहली कसौटी पर कसते हैं। इन राज्य-सञ्चालकों की उपकार-वृत्ति चरितार्थ करने का क्षेत्र किसानों और श्रमिकों का क्षेत्र वर्ग है, क्योंकि इनका कहना है कि हम इनके ही भले के लिए काम करते हैं। पर सवाल यह है, क्या

ये लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके कामों से उन्हें लाभ पहुँचता है ?

हाँ, वे स्वीकार करते हैं । अधिकांश लोग मानते हैं कि राज्य-तंत्र अनिवार्य है और बहुत से लोग सिद्धान्ततः उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु व्यवहारिक रूप को जहाँ तक हमने देख पाया है और जितनी विशिष्ट व्यक्तिगत घटनाओं से हम परिचित हैं उन सभी में हमने देखा है कि प्रत्येक मुकदमें और उसकी कार्य-पद्धति की उपयोगिता को उन लोगों ने कि जिनके लिए वे बने हैं अस्वीकार किया है, इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने उसे बीभत्स और हानिकारक तक बताया है ।

. ऐसा एक भी राज्य-सम्बन्धी अथवा सामाजिक कार्य नहीं है कि जिसे बहुतेरे लोग हानिकारक न समझते हों । न्यायालय, बैंक, म्युनिसिपैलिटी आदि स्थानीय राजतंत्र, पुलिस और मठ आदि ऐसी एक भी संस्था नहीं कि जिसे लोग बुरा और हानिकारक न समझते हों । मंत्री से लेकर पुलिसमैन तक और पादरी से लेकर कब्र खोदने तक की जितनी राज्यतंत्र सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ होती हैं उन सबको एक वर्ग के लोग उपयोगी मानते हैं और दूसरे वर्ग के लोग हानिकारक समझते हैं। और यह स्थिति केवल रूस में ही हो सो बात नहीं, फ्रांस और अमेरिका का भी यही हाल है ।

प्रजासत्ता के पक्ष की तमाम प्रवृत्तियों को गर्म सुधारक दल बुरा समझता है और सुधारक दल के हाथ में सत्ता आने पर उनके कामों को प्रजासभा के तथा अन्य दल बुरा समझते हैं। सारी बात तो यह है कि राजनीतिज्ञ लोगों के कामों को सभी लोग कभी भी उपयोगी और लाभदायक नहीं समझते; पर इससे भी बड़ी बात यह है कि उन कामों को सम्पादन करने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करना पड़ता है और उन्हें सफल बनाने के लिए खून-ख़राबी, फाँसी, जेल, अनिवार्य 'कर' आदि-आदि बातें आवश्यक हो उठती हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राजनीतिज्ञों की प्रवृत्तियों की उपयोगिता सब लोग तो कभी स्वीकार नहीं करते एक वर्ग तो उनकी उपयोगिता से सदा इन्कार ही करता है और इस उपयोगिता की प्राप्ति होती भी है तो सदा पाशविक बल के द्वारा; यह इसमें एक खास बात है। इसलिए यह बात तो नहीं कही जा सकती कि जिन लोगों के निमित्त राजनैतिक कार्य किये जाते हैं वे उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

अब हम दूसरी कसौटी को देखते हैं। हम राजनीतिज्ञों से पूछें—राजा से लेकर पुलिस के सिपाही तक, प्रधान से लेकर क्लर्क तक, महन्त से लेकर कब्र बनाने वाले तक किसी से भी पूछें और उससे उसके अन्तरात्मा का सच्चा उत्तर माँगे कि वह जो काम

करता है उसमें उसका आन्तरिक मूल उद्देश्य लोगों का कल्याण करना है या कुछ और है ? राजा का, प्रधान का, मंत्री का, गाँव के मुखिया का, मन्दिर के चपरासी का या शिक्षक का पद ग्रहण करने को जो वह तैयार होता है, वह लोक कल्याण की प्रेरणा से अथवा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ?

सच्चे मनुष्य का जवाब यही होगा कि इन कामों को स्वीकार करने का कारण व्यक्तिगत लाभ है।

इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मजदूरी करके खप-खप कर मरने वाले लोगों की मेहनत से लाभ उठाने वाला एक वर्ग इस निर्विवाद हानि के बदले में जो काम करता है उसे बहुतेरे मनुष्य तो सदा हानिकारक और निरुपयोगी ही समझते हैं और इसे लोग स्वेच्छापूर्वक स्वीकार भी नहीं करते बल्कि इसे स्वीकार करने के लिए बलपूर्वक बाध्य किये जाते हैं और इसका उद्देश्य दूसरों को लाभ पहुँचाने का नहीं बल्कि व्यक्तिगत लाभ ही है।

तब वह कौनसी बात है, जो यह साबित करती है कि राजतंत्र मानव-समाज के लिए उपयोगी है ? बस, बात यह है कि जो लोग राज्य-तंत्र चलाते हैं उनका उसकी उपयोगिता में पक्का विश्वास है और यह कि वह सदा से अस्तित्व में चला आता है। किन्तु सदा से चले आने की बात तो यह है कि गुलामी, वेश्या-

वृत्ति और युद्ध आदि कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो केवल निरूपयोगी ही नहीं प्रत्युत् अत्यन्त जघन्य हैं और वे सदा से चली आती हैं।

औद्योगिक लोग—जिनमें व्यापारी, कारखाने वाले, रेलवे के संचालक, बैंकर्स और जमींदार भी सम्मिलित हैं—यह विश्वास करते हैं कि वे अपने कार्यों से इस प्रकार का लाभ पहुँचाते हैं कि जिससे उनके द्वारा होने वाली निस्सन्दिग्ध हानि की पूर्ति हो जाती है। पर उनके इस विश्वास का क्या आधार है ? उनके कार्यों की उपयोगिता को स्वीकार कौन करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में चर्च और राज्य-तंत्र के लोग उन हजारों और लाखों श्रमिकों की ओर संकेत कर देते हैं कि जो सिद्धान्त रूप में राज्य और चर्च की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। किन्तु ये बैंकर्स, शराब बनाने वाले, मखमल, पीतल और शीशे का काम करनेवाले लोग—बन्दूकें बनाने वालों का तो कोई जिक्र ही नहीं, मगर ये बाक़ी लोग—किसकी ओर संकेत करेंगे, जब उनसे यह पूछा जायगा कि तुम्हारे कामों की उपयोगिता को स्वीकार करने वाले कौन हैं ?

यदि दुनिया में कुछ ऐसे आदमी हैं जो छींट, रेल, शराब और ऐसी ही अन्य चीज़ों की उपयोगिता समझते हैं। तो उससे कहीं अधिक ऐसे आदमी होंगे कि जो इन चीज़ों को हानिकारक

समझते हैं। रही व्यापारियों और ज़मींदारों की बात; सो उनके काम को ठीक बताने का तो कोई उद्योग भी न करेगा।

इसके अतिरिक्त इस काम से मेहनत-मज़दूरी करने वाले लोगों को सदा हानि पहुँचती है और उसमें ज़बरदस्ती भी होती है, जो देखने में राजकीय जुल्म की अपेक्षा भले ही कम मालूम पड़े किन्तु परिणाम उसका उतना ही निठुर होता है। क्योंकि औद्योगिक और व्यापारी कार्य तो लोगों की हर प्रकार की तंगी का लाभ लेने ही से चलते हैं। मज़दूरों की आवश्यकताओं से लाभ उठा कर ही उनसे कठोर और अप्रिय कार्य कराया जाता है और उनकी आवश्यकताओं का लाभ लेकर ही उनके माल को सस्ती से सस्ती कीमत पर ख़रीदा जा सकता है और उनको जो माल चाहिए उसे तेज़ से तेज़ कीमत पर बेचा जा सकता है। लोगों की तंगी से लाभ उठा कर ही उनके पास से कड़ा सूद वसूल किया जा सकता है। औद्योगिक और व्यापारिक कार्यों को चाहे जिस दृष्टि से देखिए, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जिनके फ़ायदे के लिए इन प्रवृत्तियों का होना आवश्यक बताते हैं वे लोग तो इस फ़ायदे को मानते ही नहीं, वे सिद्धान्त में भी नहीं मानते कि उनसे फ़ायदा होता है और न यह मानते हैं कि उनसे किसी खास विषय में लाभ पहुँचता है। बल्कि इसके विपरीत वे यह कहते हैं कि इन प्रवृत्तियों से तो उलटा नुक़सान होता है।

किन्तु अब हम दूसरी कसौटी पर कसते हैं और पूछते हैं कि औद्योगिक और व्यापारिक वर्ग की प्रवृत्तियों को प्रेरणा देने वाला कौन सा कारण होता है ? राजनैतिक लोगों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो उत्तर मिला था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक ठीक उत्तर मिलेगा।

कोई राज्य-कर्मचारी यह कहे कि अपने व्यक्ति-गत लाभ के साथ ही वह लोक-हित की तरफ भी दृष्टि रखता है, तो यह बात असम्भव नहीं कही जा सकती है। हम सभी को ऐसे आदमी मिले होंगे। परन्तु औद्योगिक और व्यापारी लोग तो अपने स्वार्थों के कारण लोक-हित का खयाल रख ही नहीं सकते। वे यदि धन उपार्जन और संचय करने के अतिरिक्त अपने कार्यों का कोई दूसरा उद्देश्य रक्खें तो अपने साथियों की दृष्टि में बेवकूफ समझे जायँगे। इसलिए श्रमिक लोग तो उद्योग-धन्धा करने वाले लोगों की प्रवृत्ति को अपने लिए उपयोगी समझते ही नहीं।

इस प्रवृत्ति में मजदूरों के प्रति हिंसा का भाव रहता है और इस प्रवृत्ति का उद्देश्य मजदूरों का हित नहीं परन्तु सदा ही व्यक्तिगत स्वार्थ होता है। इससे भी बढ़कर अजीब बात तो यह है कि ये उद्योग-धन्धे वाले लोग इस बात को कि उनके कामों से लोगों का हित होता है, इतने विश्वास के साथ मानने लग गये हैं कि इस कल्पित लाभ के बहाने स्वयं परिश्रम करने के कर्तव्य से

मुक्त होकर तथा दूसरों की मजदूरी से लाभ उठा कर श्रमिक वर्ग की निस्संशय प्रत्यक्ष हानि कर रहे हैं।

विद्या और कला वाले मनुष्य भी काम करने के कर्तव्य से मुक्त हो गये हैं और अपना बोझ दूसरों के सिर पर लाद दिया है। उनको पूर्ण विश्वास हो गया है कि वे अपनी कला-मयी कृतियों और विद्या के द्वारा जो लोक-हित करते हैं उससे उन्होंने अपने भरण-पोषण का दूसरों पर जो बोझ डाला है, उसका बदला मिल रहा है।

किन्तु उनके इस विश्वास का आधार क्या है?

जिस तरह हमने राज-कर्मचारी तथा उद्योग-धन्धे वाले लोगों से पूछा था, उसी तरह इनसे भी पूछना चाहिए कि मजदूरी करने वाले सब लोग अथवा उनका अधिकांश भाग क्या उस लाभ को स्वीकार करता है कि जो विद्या और कला के दावेदार होता हुआ बताते हैं?

इसका उत्तर बहुत शोक-मय मिलेगा।

राज्य-तंत्र तथा धर्मोपदेशकों की प्रवृत्ति उपयोगी है, ऐसा सिद्धान्त-रूप में तो सब कोई मानते हैं और व्यवहार में भी मजदूरी करने वाले लोगों का एक बड़ा भाग उसकी उपयोगिता को स्वीकार करता है। उद्योग-धन्धे वालों की प्रवृत्ति की उपयोगिता मजदूरी करने वाले लोगों का बहुत ही छोटा भाग स्वीकार

करता है। परन्तु विद्या-कला वाले लोगों की प्रवृत्ति की उपयोगिता तो मज़दूरी करने वाले लोगों में से कोई भी स्वीकार नहीं करता। इस प्रवृत्ति की उपयोगिता तो उस काम को करने वाले या उसको करने की इच्छा रखने वाले ही स्वीकार करते हैं। श्रमिक वर्ग विद्या-कला वाले लोगों के समस्त जीवन का भार अपने कन्धों पर उठाता है, वह उन्हें खिलाता है, पिलाता है, और पहनने को कपड़े देता है। फिर भी वह इस बात को तो कभी मान ही नहीं सकता कि इन लोगों का काम हमारे लिए उपयोगी और लाभदायक है। उनके लिए इतनी अधिक उपयोगी बताई जाने वाली इस प्रवृत्ति का खयाल भी उनके दिल में नहीं आ सकता। श्रमिक वर्ग को तो यह काम निरर्थक और नीचे गिराने-वाला मालूम होता है।

ठीक इसी दृष्टि से वह विद्यापीठों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, चित्रालयों, अजायब-घरों तथा नाटकों को देखते हैं कि जो इन्हीं-के कमाये हुए पैसों से बनाये जाते हैं। मज़दूर तो इस प्रवृत्ति को निश्चित रूप से इतना हानिकारक मानते हैं कि वे अपने बालकों को पढ़ने के लिए पाठशालाओं में भेजते ही नहीं और जहाँ कहीं लोगों को इस काम में शरीक करना ज़रूरी समझा गया वहाँ कानून बना कर लोगों को इस बात के लिए मजबूर किया गया कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें।

मज़दूरी पेशा लोग इस बात को हमेशा बुरा ही समझते हैं और वे उसी समय उसे बुरा नहीं समझते जब कि वे खुद मज़दूर नहीं रहते हैं और सम्पत्ति-सञ्चय अथवा नामधारी शिक्षा के कारण श्रमिक वर्ग में से निकल कर उस वर्ग में चले जाते हैं कि जो दूसरों की मेहनत पर जीता है। विद्या तथा कला वाले मनुष्यों की प्रवृत्ति की उपयोगिता को मज़दूर लोग न तो स्वीकार करते हैं और न कभी स्वीकार कर ही सकते हैं; किन्तु फिर भी इन प्रवृत्तियों के लिए अपना पेट काट कर साधन जुटाने ही पड़ते हैं।

राजतंत्री लोग दूसरों को फाँसी दे सकते हैं या जेल भेज कर अपना काम करा सकते हैं। व्यापारी आदमी दूसरे की मज़दूरी से लाभ उठा कर उसके पास से आखिरी कौड़ी तक निकाल लेता है और फिर उसके लिए दो ही मार्ग रह जाते हैं कि या तो यों ही भूखों मरे और या जीवन और स्वास्थ्य का नाश करने वाली गुलामी करे। किन्तु विद्या और कला वाले लोग तो प्रत्यक्ष रूप में किसी को किसी बात के लिए मजबूर करते ही नहीं। वे तो सिर्फ उन लोगों के सामने अपनी चीजें पेश कर देते हैं कि जिनको उनकी जरूरत है या जो उन्हें लेना चाहते हैं। किन्तु अपनी चीजें तैयार करने के लिए कि जिनकी मजदूर-पेशा लोगों को जरूरत नहीं होती है, वे मकान बनाने, विद्या-पीठ, विश्वविद्यालय,

महाविद्यालय, विद्यालय, अजायबघर, पुस्तकालय, संग्रहालय आदि स्थापित करने और चलाने के लिए तथा अपने और अपने साथियों के निर्वाह के लिए सरकारी लोगों के द्वारा जबरदस्ती लोगों से मेहनत कराते हैं।

कोई विद्या तथा कला वाले मनुष्य से उसकी प्रवृत्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध में पूछे तो बड़ा ही अजीब उत्तर मिलेगा। राजतंत्री लोग तो कह भी सकते हैं कि उनका उद्देश्य लोकहित सम्पादन करना है और इस कथन में कुछ तथ्यांश भी है। लोकमत भी इस बात को स्वीकार करता है। किन्तु विद्या-कला वाले मनुष्यों का उत्तर तो एकदम निराधार और उद्धत-सा होता है।

ऐसे लोग बिना किसी प्रकार का प्रमाण दिये यह कहते हैं कि उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और कि उसके बिना मानव-समाज बिलकुल नष्ट हो जायगा। वे यह दावा करते हैं, हालांकि उनके सिवा और कोई न तो उनकी प्रवृत्ति के महत्व को समझता है और न उसे उपयोगी मानता है और खुद उनकी ही व्याख्या के अनुसार सच्ची कला का उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं होना चाहिए। विद्या और कला वाले मनुष्य तो अपने प्रिय व्यवसाय में मस्त रहते हैं और इसकी पर्वाह नहीं करते कि उनकी प्रवृत्ति से लोगों को क्या लाभ होगा। उनको तो इस बात

का सदा विश्वास होता है कि वे लोग जन-समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य करते हैं।

गर्ज़ेकि राजतंत्री लोग तो ईमानदारी के साथ इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि उनकी प्रवृत्ति का मुख्य कारण व्यक्तिगत लाभ है और उसके बाद श्रमिक लोगों के लिए जितना हो सकता है उतना उपयोगी बनने की कोशिश करते हैं और व्यापारी तथा कारखाने वाले लोग अपनी प्रवृति की स्वार्थपरायणता को मान कर उसे लोकहित का स्वरूप देने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु वैज्ञानिक और कला-विज्ञ लोग तो अपनी प्रवृत्ति को झूठमूठ भी उपयोगिता का रूप देने की ज़रूरत नहीं समझते—वे तो साफ कह देते हैं कि विज्ञान और कला का आधार उपयोगिता-वाद नहीं होना चाहिए। उन्हें अपनी प्रवृत्ति की उपयोगिता ही नहीं पवित्रता के विषय में भी बड़ा गहरा विश्वास है।

अतएव यह सिद्ध होता है कि यह तीसरी श्रेणी के लोग ऐसे हैं कि जो स्वयं श्रम नहीं करते, जो अपना भार दूसरों पर डाल कर ऐसे कार्यों में व्यस्त रहते हैं कि जिनको श्रमिक वर्ग बिलकुल समझ ही नहीं सकते और जिनको लोग व्यर्थ और कभी-कभी तो केवल व्यर्थ ही नहीं प्रत्युत स्पष्ट रूप से हानिकारक समझते हैं। उनके कार्यों से लोगों को ज़रा भी फायदा पहुँचेगा या नहीं, वे लोग इस बात की पर्वाह किये बिना ही केवल

शौक़ की खातिर ऐसे कामों में व्यस्त रहते हैं। न जाने किन विचित्र कारणों से उनका यह अटल विश्वास-सा होगया है कि उनकी प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार की है कि उसके बिना लोगों का काम कभी चल ही नहीं सकता।

ये लोग जीवन-पर्यंत श्रम करने के बन्धन से विमुक्त हो गये हैं और जो लोग काम कर करके मरे जा रहे हैं उनके ऊपर अपने काम का बोझा लाद कर मौज करते हैं। वे दूसरों की मजदूरी से लाभ उठाते हैं और पीछे से यह दलील देते हैं कि वे अपनी उस प्रवृत्ति से कि जिसे बेचारे मजदूर लोग समझ भी नहीं पाते और जो उनके उपयोग की भी नहीं है, खुद मेहनत न करके दूसरों की मेहनत से फायदा उठाकर उनको जो क्षति पहुँचाते हैं उसका बदला चुका देते हैं।

राजतंत्री लोग, प्रकृति के साथ मनुष्यों को जीवन-निर्वाह के लिए जो संग्राम करना पड़ता है उससे मुक्त होकर और दूसरों की मजदूरी का फल छीन कर, जो निर्विवाद और स्पष्ट क्षति लोगों को पहुँचाते हैं उसके बदले में जो काम करते हैं उससे लोगों को उलटा और भी नुकसान पहुँचाते हैं। वे हर प्रकार की जबरदस्ती को काम में लाते हैं।

व्यापारी तथा कारखाने के मालिक लोगों की मजदूरी का लाभ लेकर लोगों को स्पष्ट और निर्विवाद हानि पहुँचाने के

बदले में जो काम करते हैं उसके द्वारा वे हो सके उतना धन इकट्ठा करने अर्थात् दूसरों के पास से छीन लेने की कोशिश करते हैं। वे दूसरों से कम से कम पैसे में अधिक से अधिक मजदूरी लेने का प्रयत्न करते हैं।

विज्ञान और कला वाले लोग मजदूर वर्ग का जो निर्विवाद और स्पष्ट नुकसान करते हैं उसके बदले में ऐसे-ऐसे काम करते हैं जो मजदूरों की समझ में ही नहीं आ सकते। खुद उनके ही कहने के मुताबिक उनकी प्रवृत्ति सच्ची तभी कही जा सकती है कि जब वे उपयोगिता को लक्ष्य में ही न रक्खें। वह तो बर-बस आकर्षित होकर अपने शौक की खातिर ही इन कामों को करते हैं और यह उन लोगों का अटल विश्वास होगया है कि दूसरों की मेहनत का लाभ उठाने का तो उन्हें अमिट अधिकार है।

गर्चे कि जिन लोगों ने जीवन-निर्वाह के निमित्त की जाने वाली आवश्यक और अनिवार्य मेहनत से अपने को मुक्त कर लिया है उनके पास ऐसा करने का कोई कारण नहीं यह एक दम निश्चित बात है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि यह सभी लोग अपने जीवन को सामाजिक मानते हैं और आत्मिक निश्चिन्तता के साथ अपने जीवन को व्यतीत करते हैं।

इस महा भयंकर भ्रम की तह में कोई बात, कोई खोटा सिद्धान्त अवश्य होना चाहिए।

वस्तुतः जो लोग दूसरों के श्रम पर जीना पसंद करते हैं उनकी स्थिति का आधार कोई एकाध छोटा-मोटा खयाल नहीं प्रत्युत् एक पूरा का पूरा सिद्धान्त और अकेला एक ही नहीं तीन सिद्धान्त उसकी तह में काम करते हैं, जो एक-एक करके कई शताब्दियों में पैदा हुए और अब उन सबके मिश्रण से यह भयंकर भ्रम—यह महान धोखा आविर्भूत हुआ है, जो लोगों की अनैतिकता को उनकी आँखों से छिपाये रखता है।

आजीविका उपार्जन करने के लिए अपने हाथ से मेहनत करने का जो मनुष्य-मात्र का मूल कर्तव्य है उसके प्रति विद्रोह करने को जो ठीक बताता है ऐसा सबसे पुराना सिद्धान्त ईसाई-चर्च का है, जो यह कहता है कि ईश्वर की इच्छानुसार मनुष्य

मनुष्य में बहुत अन्तर है—सूर्य जिस प्रकार चन्द्रमा से और तारों से विभिन्न है, इसी प्रकार मनुष्यों में भी भिन्नता है। कुछ मनुष्यों को तो भगवान ने इसलिए पैदा किया है कि वे और सब मनुष्यों पर शासन करें, कुछ को बहुत से मनुष्यों पर और कुछ को थोड़े मनुष्यों पर शासन करने के लिए बनाया है और बाक़ी सबको शासित होने के लिए भगवान ने सिर्जा है।

अब इस सिद्धान्त की यद्यपि नींव तक हिल गई है मगर फिर भी कुछ लोग इसको मानते हैं और बहुत से लोग जो इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते और इसकी उपेक्षा करते हैं वे भी व्यवहार में इसके द्वारा सञ्चालित होते हैं।

दूसरा सिद्धान्त जो शारीरिक श्रम से लोगों को मुक्त करने का पक्ष लेता है, उसे हम दार्शनिक राज्यप्रकरणी सिद्धान्त कहेंगे। इस सिद्धान्त को पूरी तरह से हेगल ने प्रतिपादित किया है। उसका कहना है कि इस समय जो वस्तुस्थिति है वह ठीक है, और जीवन का जो व्यवस्थित क्रम देखते हैं यह स्थायी और शाश्वत है। यह कुछ मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं है बल्कि यह तो चैतन्य शक्ति का अथवा यों कहो कि मानव-जीवन का एकमात्र सम्भवित विधान है—विकसित स्वरूप है।

इस सिद्धान्त को भी समाज के नेता अब मानते नहीं हैं,

किन्तु फिर भी लोगों की जड़ता के कारण जन-समाज पर इसका प्रभाव है ।

तीसरा सिद्धान्त जो इस समय लोगों के दिमाग पर शासन कर रहा है और जिसपर प्रमुख राजनीतिज्ञों, व्यापारियों और वैज्ञानिकों तथा कलाकोविदों का आधार है, वैज्ञानिक है—यहाँ विज्ञान से तात्पर्य सर्वसामान्य ज्ञान सम्बन्धी बातों से नहीं बल्कि उस विशिष्ट विद्या से है, जिसे विज्ञान अथवा साइन्स के नाम से पुकारते हैं ।

यही वह सिद्धान्त है, जिसपर खास कर मनुष्य ने अपने आलस्य और कर्तव्य-विद्रोह के बचाव का भार रक्खा है ।

इस सिद्धान्त का आविर्भाव यूरोप में एक ऐसे धनिक और आलसी वर्ग के साथ ही साथ हुआ कि जो न तो चर्च का कोई काम करता था और न राज्य का और जो अपनी इस स्थिति का बचाव करने की चिन्ता में था ।

बहुत दिन नहीं हुए, फ्रांस की क्रान्ति से कुछ ही पहले यूरोप में जो लोग शारीरिक श्रम नहीं करते थे उन्हें दूसरों के श्रम से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक था कि कोई न कोई काम अवश्य करें—या तो चर्च की सेवा करें, या राज्य की अथवा फौज में भरती हों ।

जो लोग राज्य की सेवा करते थे, उनका काम था 'लोगों पर

शासन करना'; जो चर्च के सेवक थे, उनका काम था लोगों को शिक्षा देना; और जो फौज में भरती होते थे, वे लोगों की रक्षा करते थे।

धार्मिक, राजनैतिक और सैनिक—बस, इन्हीं तीनों वर्ग के लोग दूसरों के श्रम पर जीवित रहने का दावा करते थे और ये लोग अपनी लोक-सेवा दूसरों को बता भी सकते थे। अब रहे ये धनिक लोग, इनके पास ऐसा कोई बहाना नहीं था और इसीलिए उनका तिरस्कार होता था। दूसरों के श्रम का उपयोग करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है, इसको वे स्वयं भी समझते थे। इसलिए अपनी धनिकता और आलस्य के लिए उन्हें लज्जित होना पड़ता था।

किन्तु समय के साथ ही तीनों वर्गों की बुराइयों के कारण उस धनिक और निठल्ले वर्ग का प्राबल्य होगया और उन्हें अपनी स्थिति की रक्षा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसीलिए इस नवीन सिद्धान्त का बहिष्कार हुआ। अभी एक शताब्दी भी न बीती होगी कि ये लोग जो, न चर्च का काम करते थे, न राज्य-तंत्र का, और न सैनिक सेवा, और न किन्हीं ऐसे कार्यों में भाग लेते थे, दूसरों के श्रम पर जीवित रहने के बाकायदा हकदार बन बैठे। उन्होंने अपनी धनिकता और काहिली के लिए लज्जित होना छोड़ दिया हो, इतना ही नहीं बल्कि वे अपनी स्थिति को

नितान्त औचित्य-पूर्ण मानने लगे। इन लोगों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गई है और अब भी बराबर बढ़ रही है।

किन्तु सबसे अजीब और मजेदार बात तो यह है कि ये लोग, जो थोड़े दिन पहले शारीरिक श्रम से मुक्त होने के अधिकारी समझे जाते थे, अब केवल अपने ही को इस बात का अधिकारी मानते हैं और चर्च, राज-तंत्र और सेना के सेवकों का यह कह कर विरोध करते हैं कि इनका श्रम से विमुक्त हो जाना अनुचित और अन्याय है; और कभी-कभी तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि उनकी यह प्रवृत्ति एकदम हानिकारक है। इससे भी अधिक विचित्र बात यह है कि चर्च, राज्य-तंत्र और सेना के सेवक अब अपने-अपने कार्यों को ईश्वर-प्रदत्त अधिकार नहीं बताते और न उस तात्त्विकता के ऊपर अपना आधार रखते हैं कि जो राज्य-प्रणाली को व्यक्तिगत विकास के लिए अनिवार्य बताती थी; किन्तु इन पुराने अवलम्बों को छोड़ कर कि जिनपर अभी तक उनका आधार था, अब वह उसी सिद्धान्त की सहायता ले रहे हैं कि जिसके बल पर नवीन शासकवर्ग—अर्थात् वह धनिक आलसी वर्ग कि जिसने अपने बचाव का एक नया बहाना ढूँढ निकाला था—खड़ा है और जिसके प्रमुख नेता वैज्ञानिक तथा कलाकार हो रहे हैं।

आजकल कभी भूले-भटके यदि कोई राज्य-तंत्री उन पुरानी

बातों की याद दिला कर यह कहता है कि शासन करना उसका ईश्वरप्रदत्त अधिकार है, या यह कि राज्य-तंत्र वैयक्तिक विकास का एक साधन है, तो यह केवल इसलिए कि वह समय से बहुत पीछे है और वह स्वयं इस बात को महसूस किये बिना न रहेगा कि कोई भी उसकी बातों का विश्वास नहीं कर रहा है। अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उसे नवीन और वैज्ञानिक बातों का सहारा लेना चाहिए, अब धार्मिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों से काम नहीं चलेगा।

उनके लिए यह आवश्यक है कि वे राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को पेश करें अथवा समाज-शरीर के अंग-प्रत्यंग के विकास की बात कहें; और अब शासक वर्ग को अपने साथ मिला लेने की वैसी ही आवश्यकता है, जैसी कि पुराने जमाने में पुरोहितों को बस में रखने की जरूरत थी और जैसा कि अन्तिम शताब्दी (अठारहवीं सदी) के अन्त में दार्शनिकों की सम्मति प्राप्त करना आवश्यक था। अब आज यदि कोई धनी यह कहे कि वह धनवान है, क्योंकि ईश्वर ने ही उसे ऐसा बनाया है, या यह कहे कि राज्य की रक्षा के लिए अमीर-उमरावों की जरूरत है, तो इसके अर्थ यही हैं कि वह समय से पीछे है।

अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसे यह बताना चाहिए कि उत्पत्ति के साधनों को उन्नत बना कर, आव-

श्यक पदार्थों को सस्ता करके, और एक दूसरे राष्ट्रों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके वह मानव-समाज की प्रगति में सहायता दे रहा है। उसे वैज्ञानिक भाषा में ही सोचना और बोलना चाहिए; और पहले जैसे पुरोहितों को भेंटें दी जाती थीं वैसे ही अब शासक वर्ग को अपनाने के लिए उसे भेंट देनी चाहिए। पत्र-पत्रिकायें, पुस्तकें आदि प्रकाशित करनी चाहिएँ, एक चित्र-शाला रखनी चाहिए, संगीत आदि का प्रबन्ध करना चाहिए, किन्डरगार्टन अथवा औद्योगिक विद्यालय स्थापित करना चाहिए। शासकवर्ग में वे लोग हैं, जो विद्वान हैं और एक विशिष्ट प्रकार के कला-कार हैं। शारीरिक श्रम से मुक्त होने का उनके पास पर्याप्त और औचित्यपूर्ण कारण है, जो वैज्ञानिक है; और इसी वैज्ञानिक कारण पर आजकल सब कुछ अवलम्बित है, जैसा कि पुराने जमाने में धार्मिक और उसके बाद दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर सब बातों का आधार रहा करता था। और अब आजकल यही लोग श्रम से विमुक्त हो सकने का प्रमाणपत्र दूसरे लोगों को प्रदान करने का अधिकार रखते हैं।

आजकल जो लोग शारीरिक श्रम के कर्तव्य से अपनेको मुक्त करने का पूर्णतः अधिकारी मानते हैं, उनमें वही लोग हैं, जो अपनेको वैज्ञानिक और कला-विज्ञ कहते हैं; और खास कर वे वैज्ञानिक, जो प्रयोगों पर अवलम्बित रहने वाले, बुद्धि की

कसौटी पर ठीक उतरने वाले, प्रगतिशील भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। उन कलाविज्ञों का भी औरों की अपेक्षा अधिक महत्व है, जो इसी प्रकार के विज्ञान के आधार पर काम करते हैं।

यदि आज कोई विद्वान अथवा कलाविज्ञ पुराने ढर्रे के लोगों की भाँति भविष्यवाणी, ईश्वर-प्रेरित मंत्र-स्फूर्ति अथवा आध्यात्मिक आविर्भावों का जिक्र करता है, तो वह अवश्य ही समय से बहुत पीछे है और वह अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करने में सफल न होगा। यदि वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखना चाहता है तो उसे अपनी कृतियों को प्रयोगशील, बुद्धिगम्य और आलोचनात्मक विज्ञान से सम्बद्ध करने की कोशिश करनी चाहिए और उसीको अपनी समस्त प्रवृत्ति का मूलाधार बनाना चाहिए। बस तभी वह विशिष्ट विद्या या कला, जिसमें कि वह संलग्न है, सच्ची प्रतीत होगी और स्वयं वह सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा समझा जायगा और फिर किसीको इसमें सन्देह न होगा कि उसका अस्तित्व मानव-समाज के लिए उपयोगी है। जिन लोगों ने अपनेको श्रम से विमुक्त कर रक्खा है उन सबका आधार यही प्रयोगशील आलोचनात्मक बुद्धिगम्य विज्ञान है।

धार्मिक और दार्शनिक निराकरणों का समय अब गया; अब जब कभी वे डरते-डराते अपना सिर ऊपर उठाते हैं, तो

उनका यह वैज्ञानिक उत्तराधिकारी उन्हें कुचल देता है और प्राचीनकालीन ध्वंसावशेषों को नष्ट करके उनका स्थान छीन लेता है और इस प्रकार अपनी दृढ़ता के विषय में निश्चिन्त हो-कर गर्व से सिर उठा कर चलता है।

धार्मिक निराकरण यह कहता था कि मनुष्यों का काम पहले ही से निश्चित है; कुछ शासन करने के लिए पैदा हुए हैं और बाकी आज्ञा मानने के लिए; कुछ ऐशोआराम से रहने के लिए और बाकी सब मेहनत करने के लिए। अतएव जो लोग ईश्वरीय पंजस्कृति में विश्वास करते थे, वे उन लोगों की स्थिति के औचित्य में सन्देह ही नहीं कर सकते थे कि जो ईश्वर की इच्छा से शासन करने और धन बनने के लिए पैदा हुए हैं।

दार्शनिक राज-तंत्री-निराकरण का कहना था कि राज्य-तंत्र अपनी समस्त संस्थाओं और स्वत्वों तथा अधिकृत पदार्थों के बल पर बने हुए विभिन्न वर्गों के साथ एक ऐसा ऐतिहासिक स्वरूप है, जो मानव-समाज की चैतन्य शक्ति के आविर्भाव के लिए परम आवश्यक है और इसलिए स्वत्वों और अधिकृत पदार्थों के अनुसार राज्य-तंत्र अथवा समाज के अन्दर किसी मनुष्य का किसी भी पद पर प्रतिष्ठित होना सब मानव-जीवन के विकास को सुरक्षित बनाने ही के लिए है।

अब वैज्ञानिक सिद्धान्त कहता है—यह सब वाहियात और

वहम से भरी हुई बातें हैं, इनमें से एक तो धार्मिक युग का फल है और दूसरा दार्शनिक युग का। मानव-जाति के जीवन-विधायक नियमों का अध्ययन करने का केवल एक ही साधन है; और वह है वही बुद्धिगम्य, आलोचनात्मक और प्रयोग-शील विज्ञान। प्राणि-शास्त्र समस्त बुद्धि-गम्य विज्ञानों पर अवलम्बित

और इस प्राणि-शास्त्र के आधार पर बना हुआ जो समाज-विज्ञान है वही हमें मानव-जीवन के नये-नये नियम बताता है। मानव-मण्डल अथवा विभिन्न जनसमूह एक ऐसे विराट शरीर के समान है, जो या तो पूर्णता को प्राप्त हो चुका है या शरीर-विज्ञान के नियमों के अनुकूल पूर्णता प्राप्त कर रहा है। शरीर के विभिन्न अंगों में श्रम-विभाग का होना उन नियमों में सबसे प्रमुख है। यदि कुछ लोग शासन करते हैं और दूसरे आज्ञा पालन करते हैं, कुछ ऐशोआराम से रहते हैं और दूसरे तंगी से जिन्दगी बसर करते हैं, तो इसका कारण यह नहीं है कि ईश्वर का ऐसा आदेश है और न यह कि राज्य मनुष्य के विकास का साधन है; बल्कि उसका कारण सिर्फ यह है कि शरीर की भाँति समाज में भी श्रम-विभाग हुआ करता है, जो समष्टि के जीवन के लिए आवश्यक और अनिवार्य है। समाज के अन्दर कुछ लोग तो शारीरिक श्रम करते हैं और कुछ मानसिक।

यही वह सिद्धान्त है, जिसके बल पर आधुनिक युग के लोग अपना बचाव करते हैं।

ईसा ने लोगों को नये ढंग से उपदेश दिया, जो कि उपदेश बाइबल में लिखा है।

लोगों ने पहले तो इस उपदेश का तिरस्कार किया और उसे स्वीकार नहीं किया। तब आदम के अधःपात का और अधम फ़रिश्ते की कहानियों का आविष्कार किया और इन कहानियों को ईसा की शिक्षा के नाम से प्रचलित किया है। ये कहानियाँ बिलकुल वाहियात और भित्ति-विहीन हैं, किन्तु इन्हींके आधार पर लोगों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि वे जिस प्रकार बुराई से भरा हुआ अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं उसी प्रकार अपनी जिन्दगी बसर करना जारी रख सकते हैं और फिर भी अपने को ईसा द्वारा रक्षित मान सकते हैं।

नैतिक उद्योग करके ऊँचा उठने की जिनकी प्रवृत्ति नहीं है ऐसे प्रबल जन-समूह को ये बातें इतनी अनुकूल मालूम होती हैं कि वे इस मत को झट प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं और वे उसे केवल सच्चाही नहीं बल्कि ईश्वर-प्रेरित दैवी सत्य मान लेते हैं। और यह मनघड़न्त सिद्धान्त इतना सर्व-प्रिय हो उठता है कि सदियों तक धर्मशास्त्री लोग उसके आधार पर अपने सिद्धान्तों की रचना करते हैं।

तब धीरे-धीरे वे विद्वान लोग विभिन्न मार्गों से विचार करते हुए अपने-अपने नये मत प्रतिपादित करते हैं और फिर एक दूसरे के सिद्धान्तों को झूठा साबित करके उखाड़ फेंकने की कोशिश करते हैं। उन्हें कुछ ऐसा भास होने लगता है कि कहीं कोई भूल है और वे खुद जो कुछ कहते हैं उसको समझ नहीं पाते। किन्तु जन-साधारण तो फिर भी उनसे अपने प्रिय सिद्धान्तों की व्याख्या करने को कहते हैं और इस प्रकार धर्म-शास्त्री ऐसा मान कर कि वे इन बातों को समझते हैं और उनमें विश्वास भी रखते हैं लोगों को उनका अर्थ अनर्थ करके सुनाते रहते हैं।

किन्तु समय बीतने पर धर्म-शास्त्रियों की कल्पना के आधार पर जो निर्णय निर्मित हुए थे जन-समूह को उनकी जरूरत नहीं रहती और फिर वे इन धर्माचार्यों की पवित्र गुफाओं में झाँक कर देखते हैं तो उन्हें उन शानदार किन्तु समझ में न आ सकने

वाली सत्यताओं से बिलकुल शून्य पाते हैं, जिनकी चर्चा धर्माध्यक्ष लोग बड़े रहस्य-पूर्ण भाव से किया करते थे। वे देखते हैं कि वाहियात धोखेबाजी के सिवा वहाँ कुछ भी नहीं है और तब उन्हें अपनी अन्धता पर बड़ा आश्चर्य होता है।

तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। यहाँ पर कन्फ्यूशस या एपिक्टेटस की बताई हुई ज्ञान की बातों की ओर संकेत नहीं है प्रत्युत उस पेशेवर तत्त्वज्ञान से तात्पर्य है, जो आलसी धनिक लोगों की चित्त-वृत्तियों को प्रसन्न करने वाला था। अभी बहुत दिन नहीं हुए पढ़े लिखे लोगों में एक फिलासफी का बहुत ज्यादा प्रचार था, जिससे यह सिद्ध होता था कि इस समय जैसा जो कुछ है वह उचित है; दुनिया में न कुछ अच्छा है और न बुराई; मनुष्य को बुराई के साथ संघर्ष नहीं करना चाहिए, बस उसे युग-धर्म का पालन करना चाहिए—कोई सैनिक सेवा द्वारा, कोई न्यायालय में, और कोई वायोलिन आदि वाद्य द्वारा उसका पालन कर सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य का ज्ञान कई बार और कई प्रकार से प्रकाश में आया। रूसो, पास्कल, लेसिंग और स्पाइनोजा ने इसी समय अपने-अपने विचार प्रकट किये और समस्त प्राचीन ज्ञान की व्याख्या भी की गई; किन्तु इन आलसी लोगों को इनमें से कोई भी बात पसन्द नहीं आई। हम यह नहीं कह

सकते कि हेगल की फिलासफी अपने सिद्धान्त के सामञ्जस्य के कारण इतनी लोकप्रिय हो उठी; क्योंकि डिसकार्टे, लीबनिट्ज़, फिकेट और शोपनहार की फिलासफियें भी कुछ कम सामञ्जस्यपूर्ण न थीं।

सभ्य संसार के अन्दर थोड़े दिनों के लिए हेगल के सिद्धांत, जो इतने लोक-प्रिय हो उठे थे, इसका बस एक ही कारण है; और यह वही कारण है जिसने कि मनुष्य के पतन और उद्धार के सिद्धान्त को इतना सफल बना दिया—अर्थात् इस दार्शनिक सिद्धान्त से जो निर्णय निकलते थे वे मनुष्य-स्वभाव की दुर्बल-ताओं को पोषित करने वाले थे। वह कहता था—'सब उचित है, सब ठीक है, किसीको किसी बात के लिए दोषी क़रार देने की जरूरत नहीं' और जिस प्रकार पुनरुद्धार का सिद्धान्त लेकर धर्माचार्यों ने गड़बड़ मचाई उसी प्रकार हेगल की फिलासफी के आधार पर एक बेबल का स्तम्भ बनाया गया। और अब भी जो लोग समय से पीछे हैं वे उसपर बैठे हुए हैं। और यहाँ भी पहले की तरह भाषा की गड़बड़ पैदा हुई। समझाने वाले मन ही मन यह समझते थे कि वे जो कुछ समझ रहे हैं उसे वे खुद ही नहीं समझ रहे हैं, किन्तु फिर भी अपने अज्ञान को छिपा कर लोगों पर अपनी धाक जमाये रखने की कोशिश करते और सुनने वाले लोग तो बस इतने ही से सन्तुष्ट हो जाते कि उनके प्रिय सिद्धान्तों की पुष्टि हो रही है और यह समझ कर अपने

मन को सन्तोष दे लेते कि जो बात उनकी समझ में नहीं आरही है, परस्पर-विरोधी और अजीब मालूम होती है, वह दार्शनिकता के शिखर पर तो बिलकुल सूर्य की भांति स्पष्ट होगी। किन्तु समय बीतने पर यह सिद्धान्त भी जीर्ण हो गया और इसके स्थान पर एक नया सिद्धान्त आया। पुराना सिद्धान्त बेकार हो गया था; लोगों ने उसका प्रतिपादन करने वाले आचार्यों की गुफा में झाँक कर देखा तो मालूम हुआ कि वहाँ तथ्य की तो कोई भी बात नहीं है और कुछ अर्थ-हीन अगम्य शब्दाडम्बर के सिवा पहले भी वहाँ कुछ न था। इस एक बात का अनुभव तो मैंने अपने ही जीवन-काल में किया।

मेरे जीवन के आरम्भ-काल में हेगल की फिलासफी का दौरदौरा था; उन दिनों तो वह मानों वातावरण में बसी हुई थी। पत्र-पत्रिकाओं में, व्याख्यानों में, इतिहास में, कानूनी निबन्धों में, उपन्यासों और कला सम्बन्धी पुस्तकों में, तथा उपदेशों और वार्तालापों में, सभी जगह हेगल के विचारों की ध्वनि उठती थी। जिसने हेगल को नहीं पढ़ा है उसे मित्रों में बैठकर बात करने का भी अधिकार नहीं था। जो लोग सत्य की शोध करना चाहते थे, वे भी हेगल का अध्ययन कर रहे थे। सबका ध्यान उसकी ओर था। किन्तु आज चालीस वर्ष बीतने पर कहीं उसका नाम भी नहीं सुन पड़ता। ऐसा जान पड़ता है, जैसे कि वह कभी था ही

नहीं । और खास महत्व की बात यह है कि झूठी ईसाइयत की तरह हेगल की फिलासफी भी खुद अपने आप ही मिट गई । किसीने उसके विरुद्ध जिहाद नहीं किया । मगर नहीं, हेगल की फिलासफी है तो अब भी, जैसे कि वह पहिले थी; बस, विद्वान और शिक्षित संसार को उन दोनों की अब ज़रूरत नहीं रही ।

आजकल के किसी शिक्षित मनुष्य से यदि हम हव्वा और आदम के पतन की और उसके अनुकरण की चर्चा करें तो वह हमसे न तो इस विषय पर बहस करेगा और न इससे इन्कार करेगा। वह तो आश्चर्य से यही कहेगा, कौनसा फरिश्ता ? आदम ? किस लिए ? कौनसा पुनरुद्धार ? इन सब बातों से मुझे क्या मतलब ?

हेगल की फिलासफ़ी की भी ठीक यही हालत है । आजकल का कोई आदमी उसके सिद्धान्तों पर बहस नहीं करेगा। वह सिर्फ यही पूछेगा, कौन चेतन शक्ति ? वह कहाँ से आई ? किसलिए ? इससे मुझे क्या लाभ होगा ?

कुछ ही समय पहले हेगल-फिलासफ़ी के आचार्य लोगों को अपने तत्त्वज्ञान की शिक्षा दिया करते थे और जन-साधारण बिना कुछ समझे-बूझे आँख मींच कर सब बातों में विश्वास कर रहे थे। जो बातें उनके अनुकूल थीं उनका पुष्टीकरण तो उसमें उन्हें मिलता ही था, और जो बातें उन्हें बहुत स्पष्ट नहीं प्रतीत होती थीं, या परस्पर विरोधी मालूम पड़ती थीं, उनके विषय में वे

ऐसा समझ लेते थे कि दार्शनिकता क शिखर पर ये बातें सूर्य के समान स्पष्ट हो जायँगी। किन्तु समय के साथ ही यह सिद्धान्त जीर्ण हो गया; लोगों को अब उस की जरूरत नहीं रही। इसके बाद पहले ही की भाँति लोगों ने जब आचार्यों के रहस्यमय मन्दिरों में झाँक कर देखा तो मालूम हुआ कि वहाँ कुछ भी नहीं है और बिलकुल अर्थ-हीन और अन्धकारपूर्ण शब्दाडम्बर के सिवा वहाँ कभी भी कुछ न था।

यह तो मेरी ज़िन्दगी में ही हुआ और इसकी मुझे याद है। किन्तु कहा जाता है कि इन सिद्धान्तों की यह गत इसलिए हुई कि वे धार्मिक तथा दार्शनिक काल की भ्रांत धारणायें थीं; मगर हमारे पास आलोचनात्मक बुद्धि-गम्य विज्ञान है, जो कभी धोखा नहीं दे सकता; क्योंकि वह प्रकृति-निरीक्षण और अनुभव पर अवलम्बित है। हमारा ज्ञान पहले लोगों के ज्ञान की भांति अनिश्चित नहीं और इसी विज्ञानमयी पद्धति का अनुसरण करके मनुष्य-जीवन के समस्त प्रश्नों का हल प्राप्त कर सकता है।

किंतु ठीक ऐसी ही बात तो पुराने आचार्य भी कहा करते थे और अवश्य ही वे कोई मूर्ख न थे; बल्कि हम जानते हैं कि उनमें से बाज लोग बड़े ही बुद्धिशाली थे। हेगल के शिष्यों ने भी—मुझे याद है—ऐसी ही बातें कहीं थीं और शिक्षित कहे जाने वाले लोगों ने उनकी बातों को भी ऐसा ही सच्चा समझा। हम हेरजन, स्टान-

रहा। उसका नाम था माल्थस। उसकी आबादी सम्बन्धी बातें, जिनकी सत्यता कभी सिद्ध नहीं थी, बिलकुल वैज्ञानिक और निस्सन्दिग्ध सत्य के रूप में मानी जाने लगीं और उन्हें सत्यसिद्ध सूत्र स्वीकार करके उनसे और भी निष्कर्ष निकाले गये।

इस प्रकार विद्वान और शिक्षित लोग धोखा खा गये और आलसी लोगों का तो माल्थस द्वारा सोचे हुए नियमों में अन्ध-विश्वास-सा था। यह कैसे हुआ? ये नियम तो केवल वैज्ञानिक निर्णय प्रतीत होते हैं और जन-समूह की कृतियों से उनका कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता।

किन्तु वे केवल उन्हीं लोगों के लिए विश्वसनीय हैं कि जो विज्ञान को चर्च की भक्ति स्वतःसिद्ध और निर्भ्रान्त मानते हैं और जो यह नहीं समझते कि वे किसी दुर्बल मनुष्य के विचार मात्र हैं कि जो भूल कर सकता है और जो केवल महत्व की खातिर अपने विचारों और शब्दों को विज्ञान के शानदार नाम से पुकारता है। माल्थस के नियमों से कुछ व्यवहारिक निष्कर्ष निकालते ही इसका पता लग जाता है कि वे मनुष्य-निर्मित हैं और उनका कोई निश्चित ध्येय है।

माल्थस के नियमों से जो निष्कर्ष निकाले गये, वे ये हैः—श्रमिक वर्ग की यह जो दयनीय स्थिति है उसका कारण बलवान धनी लोगों की निर्दयता, अहम्मन्यता अथवा अनौचित्य नहीं है; बल्कि

उनकी स्थिति ऐसे अपरिवर्तनीय नियम के अनुसार है, जो मनुष्य पर अवलम्बित नहीं है और इसके लिए यदि कोई दोषी है तो भूखों मरने वाला श्रमिक वर्ग ही इसके दोष का भागी है। ये मूर्ख भला ससार में पैदा ही क्यों होते हैं, जब कि वे जानते हैं कि उन्हें काफ़ी खाना नहीं मिलेगा ? इसलिए यह निश्चित है कि धनवान और बलवान लोगों को कोई दोष नहीं दिया जा सकता और वे शान्ति के साथ अपनी जिन्दगी बसर कर सकते हैं, जैमा कि वे अब तक करते रहे हैं।

ये निष्कर्ष आलसी धनिकवर्ग को प्रिय मालूम पड़े और अकर्मण्य विद्वान लोगों ने उनकी गलती और एकांगीयता के ऊपर ध्यान नहीं दिया। शिक्षित अर्थात् अकर्मण्य लोग यह समझ गये कि इन निष्कर्षों का मतलब क्या हो सकता है, इसलिए उन्होंने हर्ष के साथ उनका स्वागत किया और उन पर सत्यता की छाप लगाकर लगभग अर्धशताब्दी तक वे उन्हें अपनाये रहे। इन सब बातों का कारण यही था कि ये सिद्धान्त जीवन-निर्वाह के अनुचित ढंग को ठीक साबित करते थे।

इस नवीन बुद्धिगम्य, आलोचनात्मक और प्रयोगशील विज्ञान में जो इतना विश्वास है और लोग उसे जो इतना आदर मान देते हैं, इसकी तह में भी क्या वही कारण काम नहीं कर रहा है ? पहलेपहल तो यह बड़ा विचित्र-सा मालूम होता

है कि विकासवाद का सिद्धान्त लोगों के जीवन-निर्वाह के ढंग का बचाव करे और ऐसा भास होगा कि वैज्ञानिक सिद्धान्त तो केवल वस्तुस्थिति से ही सम्बन्ध रखते हैं और वस्तुस्थिति का निरीक्षण करने के सिवाय और कुछ नहीं करते। किन्तु यह केवल भास ही होता है।

धार्मिक शिक्षा के विषय में यही बात थी। ऐसा मालूम होता था कि धर्मशास्त्र का सम्बन्ध तो केवल सिद्धान्तों से है, मनुष्य के जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। दार्शनिकता के बारे में भी यही बात थी।

हेगल और माल्थस की शिक्षा के सम्बन्ध में भी यही बात थी। हेगल की फिलासफी तो केवल तार्किक निष्कर्षों से सम्बन्धित मालूम देती थी और मनुष्यों के जीवन से बिलकुल अलिप्त दीखती और माल्थस का सिद्धान्त तो एकदम गणित के नियमों से ही संलग्न मालूम होता था।

किन्तु यह केवल मालूम ही होता था।

आधुनिक विज्ञान भी इस बात का दावा करता है कि उसका सम्बन्ध केवल वस्तुस्थिति से है, वह केवल वस्तुस्थिति का अध्ययन करता है।

किन्तु कौनसी वस्तुस्थिति? कुछ ही बातों का अध्ययन क्यों और दूसरी बातों का क्यों नहीं?

आधुनिक विज्ञान के चेले गम्भीरता-पूर्वक इस बात को बड़े शौक़ से कहते हैं—'हम केवल वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हैं।' जैसे कि इन शब्दों का कोई अर्थ हो।

केवल वस्तुस्थिति का अध्ययन करना बिलकुल असम्भव है क्योंकि ऐसी वस्तुस्थितियों की संख्या वास्तव में असीम है कि जो हमारे अध्ययन की सामग्री हो सकती हैं।

वस्तुस्थिति का अध्ययन करने से पहले हमारे पास कोई सिद्धान्त होना चाहिए कि जिसके अनुसार वस्तुस्थिति का अध्ययन किया जाय। अर्थात् हमारे पास एक साधन होना चाहिए कि जिससे हम निश्चय कर सकें कि इन असंख्य वस्तुस्थितियों में से हम किसको चुनें। और यह सिद्धान्त वास्तव में मौजूद है और निश्चित रूप से वह प्रकट भी किया जाता है, यद्यपि आधुनिक विज्ञान के अनेक प्रतिनिधि इसकी ओर दुर्लक्ष्य करते हैं—अर्थात्, उसे जानना ही नहीं चाहते, या वास्तव में जानते ही न हों, और कभी-कभी तो न जानने का बहाना करते हैं।

समस्त महत्व-पूर्ण विश्वासों के पूर्व ऐसी ही स्थिति थी। हरएक सिद्धान्त का आधार तो प्रायः सिद्धान्त में ही प्रकट हो जाता है और विद्वान कहलाने वाले लोग दिये हुए आधारों से ही दूसरे निष्कर्ष निकालते हैं, यद्यपि कभी-कभी वे उन आधारों की ओर दुर्लक्ष्य करते हैं।

किन्तु एक मूल-भूत सिद्धान्त तो सदा होता ही है और वह अब भी है। आधुनिक विज्ञान एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार वस्तुस्थितियों का निर्वाचन करता है और उस सिद्धान्त को कभी तो वह जानता है, कभी वह जानना नहीं चाहता, और कभी-कभी वास्तव में वह नहीं जानता; किन्तु वह मौजूद तो होता ही है। वह सिद्धान्त यह है। मनुष्य-मण्डल एक कभी न मरने वाला शरीर है। मनुष्य इस शरीर के अंग हैं और समस्त शरीर के लिए प्रत्येक अंग कोई खास काम करता है। किसी शरीर के अणु जिस प्रकार समस्त शरीर के अस्तित्व के लिए आवश्यक संघर्ष को आपस में बाँट लेते हैं और आवश्यकतानुसार किसी अंग को पुष्ट करके उसकी शक्ति बढ़ाते हैं और किसी की शक्ति कम कर देते हैं और सब मिल कर एक समष्टि के रूप में समस्त शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योग करते हैं; और जिस प्रकार चींटी और मधु-मक्खी जैसे सामाजिक प्राणियों में व्यक्ति परस्पर श्रम-विभाग कर लेते हैं (जैसे रानी-मक्खी अंडा देती है, नर गर्भाधान करते हैं और अन्य मक्खियाँ सबके अस्तित्व को कायम रखने के लिए मेहनत करती हैं), बस वैसे ही मनुष्य-मण्डल और विभिन्न समाजों में जुदा-जुदा अंग अपना-अपना काम करते हैं और समस्त मानव-समाज को पोषित करने के लिए समष्टि बनकर एकरूप में समाविष्ट हो जाते हैं।

इसलिए मानव-जीवन के नियमों की शोध करने के लिए हमें शरीर के विकास और जीवन के नियमों का अध्ययन करना चाहिए। और इनमें हमें ये नियम मिलते हैं:—एक तो यह कि प्रत्येक घटना का एक से अधिक परिणाम होता है, दूसरा यह कि साम्य सदा स्थिर नहीं रहता; कितने ही यत्न से साम्य क्यों न प्राप्त हुआ हो, किन्तु उसमें विषमता पैदा हुए बिना नहीं रहेगी। इस प्रकार के अनेक नियम हैं।

देखने में ये सब बिलकुल निर्दोष मालूम पड़ते हैं। किन्तु इन वस्तु-स्थितियों के अध्ययन से जब हम निष्कर्ष निकालेंगे तो तुरन्त ही पता लग जायगा कि इनका मतलब क्या है। ये सब बातें यह सिद्ध करती हैं कि मानव-मण्डल या मनुष्य-समाज एक शरीर है और इससे यह नतीजा निकलता है कि अंगों की भाँति मनुष्य-समाज में कार्य का विभाजन मौजूद है, और मनुष्य-समाजों में जो अनेकों निर्दयतायें और बुराइयाँ भरी हुई हैं उन्हें बुरा न समझना चाहिए, क्योंकि वे श्रम-विभाजन के व्यापक नियम के अपरिहार्य परिणाम हैं। नीति-दर्शन भी प्रत्येक प्रकार की निर्दयता और उच्चता का बचाव किया करता था, मगर चूँकि वह बचाव दार्शनिक सिद्धान्तों पर होता था, इसलिए गलत था। विज्ञान के अनुसार वही बात वैज्ञानिक सिद्ध हो जाती है, इसलिए वह असन्दिग्ध सत्य है।

ऐसा सुन्दर सिद्धान्त भला कौन स्वीकार न करेगा ? हम मानव-समाज की ओर केवल देख भर लें, जैसे वह कोई निरीक्षण करने की चीज़ हो, और फिर हम शांति के साथ भूखों मरते हुए लोगों के मुँह की रोटी छीन कर खा सकते हैं और अपने मन को इस बात से सन्तोष दे सकते हैं कि नृत्य-शास्त्री, वकील, डाक्टर, दार्शनिक, नट अथवा परमाणुओं के स्वरूप को शोधन वाले की हैसियत से हम जो काम करते हैं वे मनुष्य-समाज के अंगों की आवश्यक क्रियायें हैं और इसलिए यह सवाल ही नहीं उठ सकता कि जो काम अपने को पसन्द है उसीको करते रह कर जीवन व्यतीत करना उचित है कि नहीं—जैसे कि यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि दिमागी और शारीरिक श्रम का विभाग दिमाग और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले अणुओं के लिए उचित है कि नहीं।

भला हम ऐसे सिद्धान्त को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं कि जो हमें बाद को इस लायक बना देता है कि हम अपने अन्तरात्मा को जेब में रख कर बिलकुल निरंकुश पशु-जीवन व्यतीत करते रहें और साथ ही यह विश्वास बना रहे कि हमारी कृतियों का समर्थन करने वाले वैज्ञानिक सिद्धान्त मौजूद हैं। यही नवीन विश्वास है कि जिसके आधार पर मनुष्यों की अकर्मण्यता और निर्दयता का आजकल समर्थन किया जाता है

नोट

कनफ्यूशियस—चीन का सबसे बड़ा धार्मिक ऋषि था, जिसने अपने उपदेश से चीन के धार्मिक विचारों में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की और उससे देश में एक नई चेतना का आविर्भाव हुआ। स्वयं निर्लिप्त रहते हुए भी उसने राज्य-सूत्र का संचालन अपने हाथ में लिया और उसकी सहायता से अपने उपदेशों का प्रचार कर प्रजा का कल्याण किया। २८ वर्ष की अवस्था में उसने कार्य-क्षेत्र में पैर रक्खा। उसका कहना था, जैसा तुम अपने को समझते हो वैसा ही औरों को समझो।

२. एपिक्टेटस—यह यूनान देश का एक महान् तत्त्ववेत्ता हो गया है, जो इन्द्रिय-दमन पर बहुत ज़ोर देता था। नीति के उपदेशक की हैसियत से उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और समाज पर उसके विचारों का बहुत बड़ा असर पड़ा।

३. रूसो—यह फ़्रांस देश का बड़ा ज़बर्दस्त विचारक हुआ है। इसके उपदेशों और लेखों से फ़्रांस के लोगों के विचारों में बड़ी उथल-पुथल मच गई और फ़्रांस की जग-प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति इसीके राजनैतिक और सामाजिक विचारों के प्रचार का प्रतिफल है, ऐसा प्रायः कहा जाता है।

४. पस्कल—यह भी एक फ़्रांसीसी तत्त्ववेत्ता था और गणित में इसकी विशेष गति थी। गणित में इसने महत्त्वपूर्ण शोध भी की।

५. लेसिंग—यह एक मशहूर जर्मन नाटककार तथा समालोचक हुआ है।

६. स्पाइनोज़ा—यह एक महान् अद्वैतवादी तत्त्ववेत्ता हुआ। इसका जन्म हालैण्ड की राजधानी एमस्टर्डम में हुआ। यहूदी-धर्म की

आलोचना करने के कारण उसे देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया था। उसका सिद्धान्त था कि ईश्वर ही विश्व का रचयिता है और वह विश्व-रूप है। स्वतन्त्र इच्छा (Freewill) को वह नहीं मानता था।

७. विक्टर—बर्लिन के विद्यालय में दर्शनशास्त्र का अध्यापक था। यह आदर्शवाद (Idealist Philosophy) का माननेवाला था।

८. शोपनहार—यह जर्मनी का बहुत ही मशहूर तत्त्ववेत्ता हुआ है। यह आत्म-कल्याण को सर्वश्रेष्ठ मानता था। प्राणी-मात्र की सेवा करना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है सही, पर मनुष्य का अन्तिम ध्येय यही होना चाहिए कि वह संसार के सुख-दुःखों को पार करके शान्ति-मय निर्वाण प्राप्त करे—यह उसका मत था।

बेबल का स्तम्भ—

बाइबल में इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

(१) सारी दुनिया में एकही भाषा और एकही बोली का प्रचार था।

(२) पूर्व की तरफ़ से आते हुए लोगों को शिकार का मैदान मिला और वे लोग वहीं रहने लगे।

(३) वे आपस में कहने लगे कि चलो ईंटें बनाकर उन्हें पकायें। पत्थर की जगह ईंटों का और चूने की जगह चिकनी मिट्टी का उन लोगों ने प्रयोग किया।

(४) पीछे से उन्होंने शहर बसाये और गगन-चुम्बी स्तम्भ बनाकर अपना नाम अमर करने का विचार किया। यह भी सोचा कि सम्भव है कि समस्त पृथ्वी पर हम लोग फैल जायँ।

(५) इन मनुष्यों द्वारा बनाये हुए शहर और स्तम्भ को देखने के लिए भगवान आये ।

(६) भगवान ने सोचा कि इन लोगों में साम्य है, इनकी भाषा भी एक है और इन्होंने ऐसा कार्य प्रारम्भ किया है; अब इन्हें अपने निश्चित काम से कोई रोक नहीं सकता ।

(७) इसलिए मुझे नीचे जाकर इनकी बोली में गड़बड़ी पैदा कर देनी चाहिए, जिससे ये एक-दूसरे की बात न समझ सकें ।

(८) उसके बाद भगवान ने उन्हें समस्त पृथ्वी पर छितरा दिया और उन्होंने शहर बसाना छोड़ दिया ।

(९) इसीसे उस स्तम्भ का नाम 'बेबल टावर' (अर्थात्, गड़बड़ी से भरा हुआ स्तम्भ) पड़ा, क्योंकि भगवान ने मनुष्यों की भाषा में गड़बड़ी पैदा करदी और उन्होंने उन्हें जुदा-जुदा पृथ्वीभर में छितरा दिया ।

यह सिद्धांत लग-भग ५० वर्ष पहले आरम्भ हुआ। इसका मुख्य संस्थापक फ्रांसीसी दार्शनिक कॉम्टे था। कॉम्टे क्रमबद्ध सिद्धान्त का प्रेमी और साथ ही धार्मिक वृत्ति का मनुष्य होने के कारण, 'विचटे' की शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी नई शोधों से वह बहुत प्रभावान्वित हुआ और पुराने जमाने में मेनिनियस एग्रिप्पा ने जो यह विचार प्रकट किये थे कि मनुष्य-समाज को-वस्तुतः समस्त मानव-मण्डल का—एक समष्टि, एक शरीर माना जा सकता है और मनुष्यों अर्थात् पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को समाज के भिन्न-भिन्न अंगों के अणु कहा जा सकता है और इनमें से प्रत्येक अणु का समस्त शरीर की सेवा के निमित्त अपना एक विशिष्ट उद्देश्य निश्चित होता है, कॉम्टे को यह विचार

कुछ इतना ज्यादा पसन्द आया कि उसने अपना दार्शनिक सूत्र इसी के आधार पर निर्माण किया और वह अपने इस दार्शनिक सूत्र के प्रवाह में कुछ ऐसा बढ़ गया कि वह यह बिलकुल ही भूल गया कि जिस खयाल के आधार पर वह अपना तत्त्व-ज्ञान निर्माण करने वाला है वह एक औपन्यासिक उपमा-मात्र है और इस योग्य नहीं है कि उसे तत्त्वज्ञान को भित्ति बनाया जाय। जैसा कि अक्सर हुआ करता है, उसने अपनी उस प्रिय कल्पना को स्वयं-सिद्ध सूत्र मान लिया और वह कल्पना करने लगा कि उसका सिद्धांत अटल और बुद्धिगम्य आधार के ऊपर बना है।

इस सिद्धान्त के अनुसार तो यह बात निकली कि मानव-मण्डल चूँकि एक शरीर है, इसलिए मनुष्य क्या है और संसार के साथ उसका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए, इस बात का ज्ञान तो शरीर के गुणों का अध्ययन करने ही से हो सकता है। और इन गुणों का अध्ययन करने के लिए मनुष्य को दूसरे छोटे-छोटे शरीर-तंत्रों का निरीक्षण करना चाहिए और उनके जीवन से निष्कर्ष निकालने चाहिएँ।

इसलिए कॉम्टे के सिद्धान्तानुसार पहली बात तो यह है कि विज्ञान का सच्चा और अनन्य साधन तो अनुभवात्मक है और विज्ञान तभी विज्ञान कहा जा सकता है कि जब वह अनुभव के आधार पर बना हो। दूसरी यह कि विज्ञान का उद्देश्य

और अन्तिम लक्ष्य अब वह नया विज्ञान बन जाता है कि जो काल्पनिक मानवी शरीर-तंत्र से सम्बन्धित है। कल्पना के आधार पर बना हुआ वह नया विज्ञान समाज-शास्त्र कहलाता है। विज्ञान को ऐसा मानने से साधारणतः यह फलित होता है कि पहले का सारा ज्ञान झूठा था और विचार सम्बन्धी मानव-मण्डल का समस्त इतिहास तीन बल्कि दो ही युगों में विभक्त किया जा सकता है। पहला वह धार्मिक और दार्शनिक युग था, जो संसार के प्रारम्भ से लेकर कॉम्टे तक रहा; और दूसरा यह आधुनिक वैज्ञानिक युग है, जो सच्चे और बुद्धिगम्य विज्ञान का युग है और जिसका प्रारम्भ कॉम्टे से होता है।

यह सब बड़ा ही सुंदर है; किन्तु इसमें केवल एक भूल है, और वह यह कि यह सारी इमारत बनाई गई है रेत पर—इस निराधार और गलत विचार पर कि सामूहिक दृष्टि से मानव-मण्डल शरीर-तंत्र के समान है। यह विचार निराधार है, क्योंकि यदि हम मानव-मण्डल को शरीर-तंत्र मानलें, जो कि निरीक्षण के परे की बात है, तो हम त्रिदेव (Trinity) के अस्तित्व को और इसी प्रकार की साम्प्रदायिक बातों को भी मान सकते हैं।

यह विचार गलत था, क्योंकि मानव-मंडल अर्थात मनुष्यों की कल्पना के साथ शरीर तंत्र के लक्षणों को मिला दिया गया है, हालां कि वास्तव में मनुष्य के अन्दर शरीर-तंत्र का जो एक

अनिवार्य और आवश्यक गुण हुआ करता है वह मौजूद नहीं है—और वह है अनुभूति या ज्ञान-शक्ति का केन्द्र। हम हाथी और कीटाणु दोनों ही को शरीर-तंत्र कहते हैं, क्योंकि हम ऐसा समझते हैं कि इनके अन्दर ज्ञान-शक्ति अथवा अनुभूतिओं का एकीकरण रहता है। किन्तु मानव-मण्डल अथवा मनुष्य-समाजों में इस विशिष्ट बात का अभाव होता है और इसलिए और कितने ही सादृश्य मनुष्य-समाज और शरीर-तंत्र में हुआ करें, किन्तु इसके बिना मनुष्य-समाज को शरीर-तंत्र कहना गलत है।

किन्तु आदिभौतिकवाद का मूल सूत्र निराधार और गलत होने पर भी शिक्षित कहलाने वाले संसार ने उसे बड़ी सहानुभूति के साथ स्वीकार कर लिया। उसके स्वीकार कर लिये जाने का एक महान कारण था और वह यही कि आलसी लोगों के लिए वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था, क्योंकि मौजूदा श्रम-विभाग के औचित्य को मान लेने के बाद उससे वर्तमान की परिस्थिति का एक प्रकार से समर्थन होता था, अर्थात् यह सिद्ध होता था, कि मानव-समाज में इस समय जो अनाचार और क्रूर असाम्य फैला हुआ है वह अनिवार्य है और एक आदमी का दूसरे के श्रम से जबरदस्ती लाभ उठाना जीवन के नियमों के विरुद्ध नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि कॉम्टे की कृतियों में से, जो दो भागों में विभक्त थीं—आधिभौतिक दर्शन शास्त्र और आधिभौतिक राजनीति—केवल प्रथम भाग ही नवीन अनुभवात्मक सिद्धान्तों के अनुसार विद्वानों द्वारा स्वीकृत हुआ और यह वह भाग था, जो मानव-समाज की वर्तमान बुराइयों को अनिवार्य बता कर उनका समर्थन करता था। दूसरा भाग केवल ग़ैरजरूरी ही नहीं बल्कि अवैज्ञानिक भी समझा गया, जिस में कि उन नैतिक और आध्यात्मिक मानवी कर्तव्यों की चर्चा की गई थी, जो मानव-मण्डल को शरीर-तंत्र मान लेने से स्वभावतः मनुष्यों के लिए अनिवार्य हो जाते हैं।

कान्ट के दो ग्रन्थों का भी यही हाल हुआ। 'क्रिटिक ऑव् प्योर रीज़न' नामक ग्रंथ को विज्ञान ने स्वीकार कर लिया; किन्तु 'क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न', जिसमें नीति सम्बन्धी बातों का ज्ञान था, अस्वीकृत कर दिया गया। कॉम्टे के लेखों में से उसे वैज्ञानिक मान कर उसे स्वीकार किया गया, जो वर्तमान बुराइयों का पोषक था। किन्तु कॉम्टे का आधिभौतिक दर्शनशास्त्र, जिसे लोगों ने स्वीकार किया था, कपोल-कल्पित और भ्रमात्मक सिद्धान्तों पर अवलम्बित होने के कारण बिलकुल आधार-हीन अस्थिर था, इसलिए खुद अपने बल पर वह टिका नहीं रह सकता था।

और अब वैज्ञानिक कहे जाने वाले लोगों की कपोल-कल्पनाओं में से एक ऐसा ही निराधार और गलत सिद्धान्त और पैदा हुआ, जो यह कहता था कि समस्त प्राणी-मात्र अर्थात् शरीर-तंत्र (Organism) एक दूसरे से ही पैदा होते हैं । यही नहीं कि एक शरीर-तंत्र दूसरे शरीर-तंत्र से पैदा होता हो; बल्कि एक शरीर-तंत्र कई शरीर-तंत्रों से पैदा हो सकता है—बहुत लम्बे अर्से में, उदाहरणार्थ एक करोड़ वर्ष में मछली या बतख़ ने किसी एक ही योनि में से बदलते-बदलते अपनी योनि प्राप्त की हो; इतना ही नहीं प्रत्युत् एक जीवसृष्टि अन्य अनेकों प्राणियों के समूह में से रूपान्तरित होती हुई अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। अर्थात् मधु-मक्खियों के झुंड में से कोई एक नया प्राणी पैदा हो सकता है। यह कल्पित और भ्रमात्मक सिद्धान्त शिक्षित लोगों द्वारा और भी अधिक उत्साह के साथ अपनाया गया।

यह सिद्धान्त कल्पित है, क्योंकि किसी ने भी कभी यह नहीं देखा है कि, किस प्रकार एक जीव-सृष्टि दूसरी तरह के जीवों से आविर्भूत होती है। इसलिए जीव-योनियों की उत्पत्ति की कल्पना सदा कल्पना ही बनी रहेगी और कभी भी प्रयोग-सिद्ध बात नहीं हो सकती।

यह कल्पना भ्रमात्मक थी, क्योंकि योनि-उत्पत्ति की समस्या

का जो यह हल बताया गया है कि सीमा-रहित दीर्घ काल तक पैतृकता तथा अनुकूल शीलता के नियमों के अनुसर एक योनि दूसरी योनि से पैदा हो सकती है, सो यह हल वास्तव में कोई हल ही नहीं है—यह तो उसी समस्या को दूसरे रूप में दुहरा देना मात्र है।

हजरत मूसा ने इस समस्या का जो हल बताया था, उससे मालूम होता है कि जीवों की विभिन्न योनियाँ ईश्वर की इच्छा और उसकी अनन्त शक्ति से पैदा हुईं। विकास-वाद के सिद्धान्त से यह मालूम होता है कि विभिन्न जीव-योनियाँ पैतृकता तथा परिस्थिति की अनन्त विभिन्नताओं के परिणाम-स्वरूप, असीम दीर्घकाल में, खुद एक दूसरे से ही पैदा हुईं।

यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो इसका अर्थ यह है कि विकासवाद का सिद्धान्त यह कहता है कि (इत्तफ़ाक़ से) किसी निस्सीम काल में कोई भी चीज किसी भी चीज से पैदा हो सकती है।

यह तो प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है, यह तो उसी प्रश्न का रूपान्तरमात्र है। ईश्वरेच्छा के बजाय इत्तफ़ाक़ का नाम लिया गया है, और अनन्त शब्द को सर्वशक्तिमान के सामने से हटा कर काल के सामने रख दिया है।

किन्तु डार्विन के अनुयायी लोगों के द्वारा प्रतिपादित इस

सिद्धान्त ने कॉम्ट के प्रथम सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और इसलिए वह हमारे जमाने के लिए तो वेद-वाक्य के समान हो गया और वह समस्त विद्याओं—यहाँ तक कि इतिहास, दर्शन और धर्म का भी आधार बन गया। इसके अलावा, स्वयं डार्विन ने स्पष्टता-पूर्वक यह स्वीकार किया था कि यह विचार उनके मत में माल्थस के सिद्धान्त से जागृत हुआ था। इसलिए उसने 'जीवन-संघर्ष' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया और बतलाया कि न केवल मनुष्यों में ही बल्कि समस्त सजीव जगत में यह मूल सिद्धान्त की भाँति काम कर रहा है। आलसी लोगों के लिए बचाव की भला इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी ?

अभी तक दो ऐसे स्थिर सिद्धान्त थे, जो अलग रह कर अपने पैरों पर नहीं खड़े हो सकते थे, उन्होंने एक दूसरे का समर्थन करके स्थायित्व का सा कुछ स्वरूप प्राप्त कर लिया। दोनों ही सिद्धान्तों में एक ऐसा भाव था, जो आलसी लोगों के मतलब का था। अर्थात् मानव-समाजों में जो बुराइयाँ फैली हुई हैं उनके लिए मनुष्यों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता और वर्तमान स्थिति ठीक वैसी ही है कि जैसी हो सकती है। बस, इसी कारण इस नये सिद्धान्त का लोगों ने पूर्ण विश्वास और अनुपम उत्साह के साथ स्वागत किया।

इस प्रकार यह नया वैज्ञानिक सिद्धान्त दो निराधार और भ्रमात्मक विचारों के ऊपर बना और उसे लोगों ने उसी प्रकार अन्ध-श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लिया कि जिस प्रकार धार्मिक सिद्धान्त मान लिये जाते हैं। गुण और रूप दोनों ही में यह नया सिद्धान्त ईसाई 'चर्च' के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। गुण की दृष्टि से यह सादृश्य है कि इन दोनों ही सिद्धान्तों में कुछ ऐसी चीजों को, जो वास्तव में अस्तित्व रखती हैं, बिलकुल विचित्र ही रूप दिया जाता है; और उस कृत्रिम रूप को ही हम अपनी शोध का लक्ष्य बना लेते हैं।

'चर्च' के सिद्धान्त के अनुसार ईसा के वास्तविक और ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ ईश्वरत्व के भाव का विचित्र आरोप किया जाता है। आधिभौतिकवाद में वास्तव में अस्तित्व रखने वाले मनुष्यों में शरीर-तंत्र के गुणों का प्रतिपादन किया जाता है।

रूप की दृष्टि से भी इन दोनों में खासा सादृश्य है। क्योंकि दोनों ही जगह किन्हीं विशिष्ट लोगों की बताई हुई बातें ही निर्भ्रान्त रूप से सत्य मानी जाती हैं। चर्च के सिद्धान्त के अनुसार तो ईश्वरोक्त विधानों की चर्च द्वारा की हुई व्याख्या ही पवित्र और सत्य मानी जाती है। और आधिभौतिक विज्ञान के नियमानुकूल कुछ ही लोगों के विज्ञानाध्ययन के ढंग को ठीक और सच्चा समझा जाता है।

जिस प्रकार चर्च का सिद्धान्त यह कहता है कि उस विशिष्ट चर्च की स्थापना से ही ईश्वरीय ज्ञान का प्रारम्भ होता है और केवल सौजन्य की खातिर यह कह देते हैं कि पूर्व कालीन ईश्वर-भक्त लोगों को भी एक प्रकार चर्च का अनुयायी माना जा सकता है, बस ठीक इसी प्रकार आधिभौतिक विज्ञान काम्टे को अपना जनक मानता है और इसके प्रतिनिधि भी केवल सौजन्य की खातिर पूर्वकालीन विद्याओं को स्वीकार कर लेते हैं और वह भी अरस्तू जैसे खास-खास विचारकों से सम्बन्धित विद्याओं को। चर्च और आधिभौतिक विज्ञान दोनों ही बाकी समस्त मनुष्यों का विचार दिमाग़ से निकाल देते हैं और अपने दायरों के बाहर के समस्त ज्ञान को भ्रमात्मक बताते हैं।

इन दोनों में कुछ और भी सादृश्य है। जिस प्रकार त्रिआत्मक परमात्मा और ईसा के देवत्व के प्रश्न के समर्थक के लिए मनुष्य के पतन का और ईसा के बलिदान से उसके उद्धार का सिद्धान्त सहायक सिद्ध होता है और फिर इन दोनों ही के सम्मिश्रण से चर्च की शिक्षा का निर्माण होता है, ठीक उसी तरह विकासवाद का सिद्धान्त नया रूप धारण करके कॉम्टे के उस मूल सिद्धान्त का समर्थन करता है, जो यह कहता है कि मनुष्य-समाज एक शरीर-तंत्र के समान है और इन्हीं दो तत्त्वों के मिलन से लोकप्रिय वैज्ञानिक सिद्धान्त बना है। दोनों ही में यह

बात देखने में आती है कि पुराने सिद्धान्त के समर्थन के लिए नवीन सिद्धान्त की सहायता की आवश्यकता है और उसके सहयोग से ही पुराना सिद्धान्त कुछ समझ में आने लायक बनता है। ईसा के देवत्व में विश्वास करने वाले की समझ में यदि यह बात ठीक तरह नहीं आती कि ईश्वर को पृथ्वी पर आने की क्या जरूरत थी, तो पुनरुद्धार का सिद्धान्त उसका निराकरण कर देता है। मानव-मण्डल एक शरीर-तंत्र है, ऐसा मानने वाले की समझ में यदि यह बात नहीं आती कि कुछ लोगों के समूह को शरीर-तंत्र क्यों माना जाय, तो विकासवाद का सिद्धान्त इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए आगे बढ़ता है।

कॉम्टे के सिद्धान्त में खामी है, उसे दूर करने के लिए विकास-वाद के सिद्धान्त की जरूरत है। यह कहा जाता है कि मानव-मण्डल एक शरीर-तंत्र है; पर हम देखते हैं कि उसमें शरीर-तंत्र के खास गुण का प्रभाव है। इसका क्या उत्तर हो सकता है? यहीं पर विकासवाद का सिद्धान्त आकर सहायता देता है। वह कहता है—मानव-मण्डल है तो शरीर तंत्र, पर वह भी विकास की अवस्था में है, वह पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है। यदि तुम इस बात को स्वीकार करलो, तो तुम मानव-मण्डल को शरीर-तंत्र मान सकते हो।

जिस प्रकार धार्मिक सम्प्रदाय की बारीकियाँ केवल उन्हीं-

की समझ में आ सकती हैं कि जो उसके मूल सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं, इसी प्रकार इस अभिनव विज्ञान समाज-शास्त्र की बारीकियाँ, जो आजकल अपने अनुयायियों का ध्यान बड़े ज़ोर से अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं, उसी मनुष्य की समझ में आ सकती हैं कि जो उसमें विश्वास करता है। पुनरुद्धार का सिद्धान्त चर्च-सम्प्रदाय की पहली बात और वस्तुस्थिति में जो विरोध है उसको दूर करने के लिए ज़रूरी है। ईश्वर ने मनुष्यों को बचाने के लिए संसार में अवतार लिया, किन्तु मनुष्य बच गये हों ऐसा तो नहीं मालूम पड़ता। इसका क्या कारण है? पुनरुद्धार का सिद्धान्त कहता है—उसने उनको बचाया कि जो पुनरुद्धार के सिद्धान्त में विश्वास लाये। यदि तुम विश्वास करो तो तुम भी बच सकते हो।

सादृश्य और भी आगे तक जाता है। विश्वास द्वारा स्वीकृत विचारों पर स्थापित होने के कारण ये दोनों ही सिद्धान्त न तो अपने मूल-भूल तत्त्वों के सम्बन्ध में कभी कोई प्रश्न ही उठाते हैं, और न उनका विश्लेषण करते हैं, बल्कि शाखाओं के रूप में उनसे और भी अजीब-अजीब सिद्धान्तों को प्रस्फटित करते हैं। इन सिद्धान्तों के प्रचारक चर्च-सम्प्रदाय वाले अपने को 'पवित्र' कहते हैं और आधिभौतिक विज्ञान वाले अपने को 'वैज्ञानिक' नाम से पुकारते हैं और दोनों अपने को निर्भ्रान्त मानते हैं।

फिर ये लोग एकदम निरंकुश, निराधार और अविश्वसनीय कल्पनाओं को अवतारणा करते हैं, जिनका वे बड़ी ही गम्भीरता और उत्साह के साथ लोगों में प्रचार करते हैं; किन्तु जो लोग उनकी कल्पनाओं से सहमत नहीं होते वे फिर उतनी ही गम्भीरता और उत्साह के साथ उन बातों का विगतवार खण्डन करते हैं, हालांकि मूल सिद्धान्तों को वे भी मानते हैं।

उदाहरणार्थ हर्बर्ट स्पेन्सर, जो आदिभौतिक दर्शन का एक जबरदस्त स्तम्भ है, अपने लेखों में इन सिद्धान्तों की इस प्रकार चर्चा करता है:—समाज और शरीर-तंत्र निम्नलिखित बातों में एक से हैं—(१) स्वल्प समुदाय के रूप में उनका प्रारम्भ होता है, फिर अलक्ष्य भाव से वे धीरे-धीरे बढ़ते हैं, यहाँ तक कि वे कभी-कभी मूल से दस गुना अधिक बढ़ जाते हैं। (२) प्रारम्भ में उनकी शरीर-रचना इतनी सादी होती है कि एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि उनमें कोई रचना ही नहीं है, किन्तु बढ़ते-बढ़ते सतत वृद्धिंगत रचना की जटिलता को प्राप्त हो जाते हैं। (३) प्रारम्भ में उनके अविकसित काल में, उनके अणुओं में शायद ही किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध अथवा पारस्परिक आश्रय का भाव रहता हो, परन्तु धीरे-धीरे उनमें पारस्परिक आश्रय इतना बढ़ता जाता है और अन्त में जाकर इतना बलवान हो उठता है कि एक अणु का जीवन और उसकी प्रवृत्ति अन्य

अणुओं के जीवन और प्रवृत्ति के सहारे ही कायम रह सकती हैं। (४) समुदाय का जीवन और विकास उसके प्रत्येक अणु के जीवन और विकास से स्वतंत्र और अधिक दीर्घजीवी होता है। अणुओं का जन्म, विकास, प्रवृत्ति, संख्या-वृद्धि तथा मरण स्वतंत्र रूप से बराबर होता रहता है। परन्तु उन अणुओं का बना हुआ समुदाय शरीर-रचना का तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विकास तथा उनकी विशेष प्रवृत्तियों की उन्नति करते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीता रहता है।

इसके बाद हर्बर्ट स्पेन्सर समाज और शरीर-तंत्र में जो भेद हैं उनका जिक्र करता है; किन्तु यह कह कर कि यह भेद केवल ऊपरी और दिखावटी ही है, समाज और शरीर-तंत्र की एक-रूपता को सिद्ध करता है।

एक तटस्थ आदमी के मन में स्वभावतः यह शङ्का उठेगी कि मानव-मण्डल को शरीर-तंत्र या इसी प्रकार की कोई चीज़ क्यों माना जाय? उपर्युक्त चार बातों के कारण ही तो समाज को शरीर-तंत्र के समान माना जाता है न? पर कैसे? तुम शरीर-तंत्र के कुछ गुण ले लेते हो और फिर समाज पर उनका आरोप करते हो। तुम चार बातें समानता की निकाल कर रखते हो और फिर समानताओं की चर्चा करते हो, किन्तु उनको तो तुम ऊपरी या दिखावटी कह कर टाल देते हो और इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हो कि मानव-समाज को शरीर-तंत्र माना जा

सकता है। किन्तु यह तो केवल अर्थ का विकास है। इस तरह तो हम किसी भी चीज को शरीर-तंत्र कह सकते हैं। मिसाल के लिए बाग या वन को ही ले लीजिए। पहले तो वह छोटे से समूह में किसी मैदान में प्रारम्भ होता और फिर अलक्ष्य रूप से धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, वन की रचना भी प्रारम्भ में सीधी-सादी होती है और फिर गुम्फित होती जाती है। पहले तो पेड़ सीधे उगते हैं, बहुत थोड़ी शाखायें होती हैं, फिर शाखायें बढ़ती जाती हैं और एक दूसरे से मिल कर गुम्फित होती जाती हैं। 'अंगों' अथवा अणुओं का पारस्परिक अवलम्ब बढ़ता जाता है; यहाँतक कि प्रत्येक अंग का जीवन दूसरे अन्य सब अणुओं की प्रवृत्ति पर निर्भर रहता है। वन के विषय में भी ठीक यही बात है। कुछ वृक्ष तनों को गरम रखते हैं (जैसे अखरोट आदि, उन्हें यदि काट डाला जाय तो दूसरे वृक्षों को जाड़े में पाला मार जाय), कुछ छोटे-छोटे वृक्ष हवा को रोकते हैं, और बीज वाले वृक्ष अपनी नस्ल को जारी रखते हैं। शरीर-तंत्र के अंग पृथक पृथक् भले ही खतम हो जायँ, किन्तु समष्टि-रूप से शरीर-तंत्र जीवित रहता है। वन में भी यही बात है। वृक्ष जुदा-जुदा भले ही सूख जायँ, किन्तु वन समष्टि रूप से बना रहता है और बढ़ता जाता है।

वैज्ञानिक कहा करते हैं कि शरीर का कोई अंग काट डालने से वह नष्ट हो जाता है। हम कहते हैं, एक वृक्ष को वन की

भूमि और छाया से हटा दो तो वह भी सूख जायगा।

वैज्ञानिक और धार्मिक सिद्धान्तों में एक और भी सादृश्य है। दोनों श्रद्धा पर अवलम्बित होते हैं और तर्क से हार नहीं मानते।

यह दिखा कर कि इस सिद्धान्त के अनुसार तो वन को भी शरीर-तंत्र कहा जा सकता है, आप यह समझेंगे कि इस सिद्धान्त के मानने वालों को आपने यह सिद्ध कर दिया है कि उनका यह सिद्धान्त भ्रमात्मक है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। शरीर-तंत्र की उनकी व्याख्या ऐसी व्यापक और लचीली है कि वह किसी भी चीज पर घटाई जा सकती है।

वे कहेंगे कि हाँ आप वन को भी शरीर-तंत्र मान सकते हैं। 'तब तो', आप कहेंगे, 'हम पत्तियों को कीड़ों-मकोड़ों को और जंगल की बूटियों को भी शरीर-तंत्र मान सकते हैं।' वे इसपर भी राजी हो जायँगे। उनके सिद्धान्त के अनुसार हम किसी भी ऐसे प्राणी-समुदायों को जो परस्पर सहयोग करते हैं और एक दूसरे को नष्ट नहीं करते, शरीर-तंत्र मान सकते हैं; अर्थात् यह कह सकते हैं कि जीव-सृष्टि एक समष्टि है, एक शरीर है तो किन्हीं भी चीजों में यदि आप सम्बन्ध और सहयोग स्थापित कर सकें तो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार यह कह सकते हैं कि काफी समय बीतने पर कोई भी चीज किसी भी चीज से पैदा हो सकती है।

जो लोग त्रिदेव अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्रात्मा इन तीन प्रकार के परमात्मा में विश्वास रखते हैं, उनको यह सिद्ध करना असम्भव है कि त्रिदेव नहीं हो सकते हैं। किन्तु इतना तो अवश्य ही बताया जा सकता है कि उनका यह विश्वास ज्ञान पर अवलम्बित नहीं है, केवल श्रद्धाजनित विश्वास-मात्र है, और यदि वे इसपर जोर दें कि नहीं तीन ही परमात्मा हैं तो हमें भी यह कहने का उतना ही अधिकार है कि संसार में १७½ परमात्मा हैं।

आधिभौतिक और विकासवादी विज्ञान के अनुयायियों से यदि यही बात कही जाय तो उसमें और भी अधिक औचित्य होगा। इस विज्ञान के आधार पर तो कोई कुछ भी सिद्ध कर सकता है। और मजे की बात तो यह है कि यह विज्ञान, आधिभौतिक विज्ञान, अपने वैज्ञानिक ढंग को ही सच्चे ज्ञान का एकमात्र साधन मानता है और वैज्ञानिक पद्धति किसे कहते हैं, इसकी उसने स्वयं ही व्याख्या की है। उसका कहना है कि साधारण विवेक-बुद्धि ही वैज्ञानिक ढंग कहलाता है; किन्तु वह साधारण विवेकबुद्धि ही उसके सिद्धांत की पग-पग पर भूलें निकालती है।

जो लोग पहले साधु-सन्तों के पदपर प्रतिष्ठित थे, उन्होंने ज्योंही यह समझा कि अब उनमें पवित्रता या साधुत्व का कोई भी गुण शेष नहीं रह गया और वे पोप और पादरियों की तरह पापी

बन गये हैं त्योंही उन्होंने अपने को केवल पवित्र ही नहीं 'महा-पवित्र' के नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया। इसी तरह विज्ञान को ज्योंही यह महसूस हुआ कि उसने साधारण विवेक-बुद्धि को एक ओर रख दिया है, बस त्यों ही वह अपने को बोधगम्य विज्ञान अथवा शास्त्रीय विज्ञान के नाम से पुकारने लगा।

"श्रम-विभाग एक ऐसा नियम है, जो सभी चीजों में पाया जाता है और इसलिए मानव-समाज में भी वह नियम अवश्य होना चाहिए।" यह हो सकता है, किंतु प्रश्न फिर भी बना ही रहता है, कि क्या जो श्रम-विभाग में प्रचलित है वही सच्चा श्रम-विभाग है और क्या ऐसा ही श्रम-विभाग होना चाहिए ? और जब लोग किसी विशिष्ट श्रम-विभाग को अनुचित और अन्यायपूर्ण मानते हों तो कोई भी विज्ञान यह नहीं कह सकता कि जिसे वे अनुचित और अन्याय-पूर्ण मानते हैं वह जारी रहे।

चर्च-धर्म ने इस बात को प्रतिपादन किया कि "शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है।" यह ठीक भी माना जाय तो हर्ज नहीं। किन्तु प्रश्न

यह है कि वह शक्ति दी किसे गई है—महारानी कैथराइन को या विद्रोही 'युगाटनफ़' को ? धर्म की कोई भी व्याख्या इस कठिनाई को हल नहीं कर सकी। नैतिक दर्शनशास्त्र यह कहता है कि "राज्य व्यक्तियों के सामाजिक विकास का केवल एक रूप है।" किन्तु प्रश्न उठता है, क्या नीरो या चंगेज़खां के राज्य को सामाजिक विकास का एक साधन कहा जा सकता है ? कोई भी सिद्धांत, चाहे वह कितनी ही उत्कृष्टता का दावा क्यों न करे, इस कठिनाई को हल नहीं कर सकता।

वैज्ञानिक शास्त्रों के सम्बन्ध में भी यही बात है। किसी भी जीव-सृष्टि और मानव-समाज के निर्वाह के लिए श्रम-विधान आवश्यक है, यह ठीक; किन्तु मानव-समाज में क्या कोई ऐसी चीज़ है, जिसे शरीर-धर्म के अनुसार स्वाभाविक श्रम-विभाग कहा जा सके ? किसी कीट-विशेष के परमाणुओं में, विज्ञान, श्रम-विभाग कितना ही क्यों न देखे, किन्तु उसका समस्त निरीक्षण और अध्ययन मनुष्यों को किसी ऐसे श्रम-विभाग को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं कर सकेगा कि जिसे उनकी विवेक-बुद्धि और अन्तरात्मा स्वीकार न कर सकते हों।

निरीक्षित जीव-सृष्टियों में विज्ञान को श्रम-विभाग के कितने ही विश्वसनीय प्रमाण क्यों न मिल जायँ; किन्तु कोई भी आदमी, जिसकी बुद्धि बिलकुल ही मारी नहीं गई है, यही कहेगा कि यह

अन्याय है कि कुछ लोग आजीवन कपड़ा ही बुना करें—इसे वह श्रम-विभाग नहीं मनुष्यों के ऊपर अत्याचार कहेगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर और अन्य लोग कहते हैं—चूँकि जुलाहों की एक बारती की बस्ती है, इसलिए यह निश्चित है कि श्रम-विभाग के अनुसार ही उनकी यह प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। ऐसा कहते समय वे धार्मिक आचार्यों की तर्क-शैली का अनुसरण-सा करते हैं। संसार में शक्ति है, इसलिए वह ईश्वर-प्रदत्त है—फिर चाहे वह कैसे ही क्यों न हो; दुनिया में जुलाहे हैं, इसलिए वे श्रम-विभाग के नियम के अनुसार ही अस्तित्व में आये हैं। इस बात में कुछ तथ्य हो सकता था, यदि वह शक्ति और जुलाहों की स्थिति स्वतः ही पैदा हुई होती; किन्तु, हम जानते हैं कि, वह स्वतः नहीं पैदा हुई है बल्कि हमी लोगों ने उसको जन्म दिया है। अच्छा तो अब हमें यह देखना होगा कि हमने उस शक्ति को ईश्वर की इच्छानुसार स्थापित किया है या केवल अपनी मर्जी से, और जुलाहों के समुदाय को जो हम अस्तित्व में लाये हैं, यह जीव-सृष्टि के किसी संयम के अनुसार, या अन्य हो किसो कारण से ?

कल्पना कीजिए कि कुछ लोग कृषि करके अपना निर्वाह कर रहे हैं, जैसा कि हर किसी को करना चाहिए, इसी बीच में एक आदमी ने लोहार की भट्टी बनाकर अपने हल की मरम्मत की; उसका पड़ौसी आया और उसने भी अपने हल की मरम्मत करने

के लिए उससे कहा और बदले में कुछ नाज या पैसे देने का वादा किया। दूसरा भी यही प्रार्थना लेकर आता है और यह सिलसिला जारी हो जाता है। इस प्रकार इस समाज में श्रम-विभाग के एक रूप की स्थापना हो जाती है—एक आदमी लोहार बन जाता है।

दूसरे आदमी ने अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दी है। उसके पड़ोसी अपने बच्चों को लाकर पढ़ाने का अनुरोध करते हैं और इस प्रकार उस गाँवमें वह शिक्षक बन जाता है। किन्तु ये लोहार और शिक्षक बने ही केवल इसलिए कि समाज को उनकी जरूरत है और वे केवल उसी समय तक रहते हैं कि जब तक समाज को उनकी जरूरत रहती है। यदि ऐसा हुआ कि बहुत से लोहार या शिक्षक पैदा हो गये, या अब उनकी लोगों को जरूरत न रही, तो साधारण विवेक-बुद्धि के अनुसार वे अपना पेशा छोड़ देते हैं और फिर पहले ही की भाँति किसान या मजदूर बन जाते हैं—जैसा कि हमेशा और हर जगह हुआ ही करता है, जबतक कि उचित श्रम-विभाग के नियमों के भंग होने का कोई कारण नहीं होता।

जो लोग इस प्रकार व्यवहार करते हैं, वे विवेक-बुद्धि और अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुकूल किया करते हैं; और इसलिए हम सब लोग, जिनको भगवान ने बुद्धि और अन्तरात्मा की शक्ति

दी है, इस बात को मानते हैं कि यह श्रम-विभाग उचित है; किन्तु यदि ऐसा हो कि लोहार यह समझ कर कि वह दूसरे लोगों को अपने लिए काम करने को बाध्य कर सकता है, ऐसी हालत में भी घोड़े की नालें बनाना जारी रक्खे कि जब उनकी कोई जरूरत न रह गई हो, या शिक्षक विद्यार्थियों के अभाव में भी यही इच्छा करे कि मैं तो पढ़ाने का ही काम करूँगा, तो प्रत्येक निष्पक्ष—मनुष्य जिसमें विवेक और अन्तरात्मा का प्रकाश है—स्पष्टतया यह देखेगा कि यह सच्चा श्रम-विभाग नहीं है, यह तो दूसरों के श्रम को हड़प करने का ढोंग है। क्योंकि यह श्रम-विभाग कसौटी पर ठीक नहीं उतरता और श्रम-विभाग के खरे-खोटे होने की जाँच करने के लिए ठीक कसौटी यह है—दूसरे लोग उस प्रकार के श्रम को चाहते हों और उसके बदले स्वेच्छा-पूर्वक पारितोषिक देने को तैयार हों। किन्तु विज्ञान इससे बिलकुल उलटी ही बात को श्रम-विभाग कहता है।

दूसरों को जिस चीज की जरूरत का स्वप्न में भी खयाल नहीं आता उसको किये जाते हैं, ऐसे काम का परिश्रम भी वे माँगते हैं, और कहते हैं कि उनका यह काम ठीक है, क्योंकि यह श्रम विभाग के अनुकूल है।

लोगों के ऊपर जो सबसे जबरदस्त आफ़त है—और वह एक ही जगह नहीं, सब देशों में है—वह सरकार की अर्थात्

असंख्य अहलकारों के भार की है। अंग्रेज लोगों के कथनानुसार हमारी दरिद्रता का कारण आवश्यकता से कहीं अधिक होने वाली औद्योगिक माल की उत्पत्ति है। अनेक प्रकार की वस्तुयें इतने बड़े परिमाण में बनती हैं कि उन सबकी खपत हो नहीं सकती और उनकी लोगों का जरूरत भी नहीं होती। यह सब श्रम-विभाग सम्बन्धी विचित्र कल्पनाओं का ही परिणाम है।

यदि कोई मोची बिना माँग और बिना किसी जरूरत के ही बूट बनाता रहे और उसके बदले में लोगों से जबरदस्ती खाना माँगे, तो यह आश्चर्य की बात होगी; किन्तु गवर्नमेण्ट, चर्च, विज्ञान और कला से सम्बन्ध रखने वाले लोगों के लिए हम क्या कहें, कि जो कोई लोकोपयोगी चीज तो पैदा नहीं करते और जो पैदा करते हैं उसकी लोगों को जरूरत नहीं होती, मगर फिर भी बड़ी साहसिकता के साथ श्रम-विभाग पर इस बात का दावा करते हैं कि उन्हें अच्छा खाना और अच्छा कपड़ा दिया जाय।

कुछ ऐसे जादूगर तो हो सकते हैं कि जिनके खेलों की जनता में माँग हो और जिनको लोग खाने-पीने की चीजें देना पसंद करते हैं; किन्तु हम ऐसे जादूगरों के अस्तित्व की तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि जिनकी कला की तो लोगों को जरूरत न हो, मगर जो लोगों से अपने भरण-पोषण की आशा

करें—केवल इसलिए कि वे अपने खेतों को जोतना चाहते हैं; किन्तु हमारी इस दुनिया में, चर्च और गवर्नमेंट के अहलकारों, और वैज्ञानिकों तथा कला-विज्ञों की बिलकुल यही हालत है और इस सारी विचित्रता की जड़ वही श्रम-विभाग की मिथ्या कल्पना है, जो बुद्धि और अन्तरात्मा पर अवलम्बित नहीं है; बल्कि जिसका आधार कुछ ऐसे निष्कर्ष हैं, जिन्हें ये वैज्ञानिक लोग एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि श्रम-विभाग सदा ही रहा है; किन्तु वह उचित तभी होता है कि जब मनुष्य केवल प्रचलित पद्धति का निरीक्षण करके ही नहीं बल्कि उसे अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा से पसंद करता है। और मनुष्य का विवेक और उसका अन्तरात्मा इस प्रश्न को बड़ी ही सरलता के साथ और निश्चित रूप से तय कर सकता है। वे इस प्रश्न का फैसला हमेशा इस प्रकार करते हैं:—मनुष्य जो काम करता है वह यदि दूसरों के लिए इतना आवश्यक होता है कि लोग उसके बदले में खुशी से उसके खिलाने-पिलाने का भार अपने ऊपर लेने को तैयार होते हैं, तो वह अर्थात् विवेक और अन्तरात्मा उस श्रम को उचित समझते हैं। मगर जब कोई व्यक्ति बचपन से लेकर ३० वर्ष की अवस्था तक दूसरों के सहारे जीता है—इसलिए कि जब वह अध्ययन समाप्त कर चुकेगा तब वह कोई बहुत ही उपयोगी काम करेगा,

जिसे किसी ने करने को उससे कहा नहीं है—और फिर अपना शेष जीवन भी उसी प्रकार व्यतीत करता है, केवल लोगों को यह दिलासा देता रहता है कि वह जल्दी ही कोई अच्छा काम करेगा, जिसे किसी ने उससे करने को कहा नहीं, तो अवश्य ही यह सच्चा श्रम-विभाग नहीं है। यह तो वास्तव में जबरदस्त आदमी का दूसरों के श्रम को अन्याय-पूर्वक हथिया लेना है और इसी-को पहले ज़माने में धर्म-शास्त्री ईश्वरीय विधान कहते थे, दर्शनशास्त्र अनिवार्य जीवन संघर्ष के नाम से पुकारता था, और अब वैज्ञानिक विज्ञान उसे शरीर-तंत्र के नियमानुसार बना हुआ श्रम-विभाग बताता है।

आजकल जिस विज्ञान का बोलबाला है, उसका सारा महत्व बस इसी एक बात में है। यह विज्ञान ही लोगों को अकर्मण्यता के लिए प्रमाणपत्र दिया करता है, क्योंकि अपने क्षेत्र में इस बात का निर्णय करने का अधिकार उसी को है कि कौन-सी प्रवृत्ति हानिकारक है और कौन शरीर-तंत्र को पोषण करने वाली—मानों इस बात का निर्णय हरएक आदमी खुद अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा से पूछ कर नहीं कर सकता, हालांकि अन्तरात्मा ही उसका सच्चा निर्णायक है और उसका निर्णय होगा भी बहुत जल्दी तथा सुन्दर।

धर्माचार्यों और दार्शनिकों के ज़माने में जैसे इस बात का

संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं थी कि लोगों के लिए सबसे अधिक उपयोगी कौन है, वैसे ही आज आदिभौतिक विज्ञान के अनुयायियों को इसमें कभी संदेह नहीं हो सकता कि उनकी निजी प्रवृत्ति ही शरीर-तंत्र के लिए अधिक उपयोगी है—विज्ञान और कला तो दिमाग के अणु हैं, और यह दिमाग ही मनुष्य के शरीर में सबसे अधिक मूल्यवान है।

हमें इसमें आपत्ति करने की कोई जरूरत नहीं कि वे प्राचीन पुरोहितों और दार्शनिकों की तरह खायें-पियें मौज करें और लोगों पर शासन करें, जब तक कि वे लोगों को पतित न बनायें।

चूँकि मनुष्य के पास बुद्धि है, इसलिए अपने पूर्वजों के अनुभवों से लाभ उठाते हुए उसने अच्छे-बुरे की तमीज करली है और सच्चा और अच्छा मार्ग खोजते हुए वह बुराई से लड़ा है और इस प्रकार धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से वह आगे बढ़ा है। किन्तु उसके मार्ग में सदा ही तरह-तरह के भ्रम आकर खड़े होते रहे और उसे फुसलाते रहे कि वह जो अधर्म के विरुद्ध इतनी जद्दोजहद कर रहा है, यह अनावश्यक है—उसे तो जीवन के प्रवाह के साथ ही बहना चाहिए।

सबसे पहले तो पुराने चर्च का वह महान् भ्रम था, बड़ी मुसीबतों से धीरे-धीरे मनुष्यों ने उससे अपना पीछा छुड़ाया;

मन से तो अच्छे-बुरे, धर्म-अधर्म का विचार भी जाता रहता है और वे इन शब्दों के अर्थ ही समझने में असमर्थ होते हैं कि जिन्हें मानव-समाज ने अपने समस्त पूर्ववर्ती अस्तित्व के समय में सिद्ध किया।

विवेक और अन्तरात्मा उनसे तो कुछ कहते हैं और संसार के प्रारम्भ से लेकर अबतक जो कुछ उन्होंने (विवेक और अन्तरात्मा ने) मनुष्यों के उच्चातिउच्च प्रतिनिधियों से कहा है उसे वे अपनी अनादर-सूचक भाषा में 'अनिश्चित और कल्पित' का नाम देते हैं; और कहते हैं, ये सब त्याज्य हैं।

यह कहा जाता है कि बुद्धि के द्वारा मनुष्य सत्य को नहीं जान सकता, क्योंकि बुद्धि गलती कर सकती है। एक दूसरा रास्ता है, जो निर्भ्रान्त और यांत्रिक है—बस, विज्ञान के आधार पर घटनाओं तथा वस्तु-स्थिति का अध्ययन करना अर्थात् आधिभौतिकवाद और विकासवाद इन दो निराधार कल्पनाओं के अनुसार हमारा अध्ययन हो। इन्हें वैज्ञानिक लोग निस्सदिग्ध सत्य के रूप में पेश करते हैं। उपहास्य गम्भीरता के साथ विज्ञान यह घोषित करता है कि जीवन के समस्त प्रश्नों का हल प्राकृतिक और जीव-सृष्टि-सम्बन्धी घटनाओं के अध्ययन से ही हो सकेगा।

बेचारे भोले-भाले नवयुवक इस सिद्धान्त की नवीनता से आकर्षित होकर कि जिसका अभी नाश नहीं हुआ, इतना ही नहीं

१०

बल्कि जिसकी अभी आलोचना भी नहीं हुई है, प्राकृतिक विज्ञान की बातों का अध्ययन करने के लिए दौड़ पड़ते हैं और उस मार्ग का अनुसरण करते हैं, जिसके अलावा वैज्ञानिकों के कथनानुसार जीवन के प्रश्नों को हल करने के लिए और कोई मार्ग ही नहीं है। किन्तु विद्यार्थी जितना ही इसका अध्ययन करते हैं उतना ही वे जीवन के प्रश्नों को हल करने की सम्भावना से दूर हटते जाते हैं। इतना ही नहीं, वे उसका खयाल तक भुला बैठते हैं। और ज्यों-ज्यों वे अभ्यास करते हैं त्यों-त्यों स्वयं निरीक्षण न करने की और दूसरे लोगों द्वारा किये गये निरीक्षणों को श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार कर लेने की आदत पड़ती जाती है और बाह्य रूप से ढककर अन्तर का तत्त्व अधिकाधिक प्रच्छन्न होता जाता है। धर्म-अधर्म का उन्हें भान नहीं रहता और मानव-मण्डल ने अपने इतने दीर्घ अनुभव से अच्छे-बुरे की, धर्म-अधर्म की, जो व्याख्या की और उसके विषय में जो कुछ कहा, उसके समझने के अधिकाधिक अयोग्य होते जाते हैं और तिरस्कार-सूचक भाषा में विज्ञान को इन बातों को 'अनिश्चित' कहने की जो आदत पड़ गई है उसका वे अधिक अनुकरण करने लग जाते हैं। अज्ञान-पूरित निरीक्षण की उपासना में ये ज्यों-ज्यों गहरे उतरते जाते हैं, त्यों-त्यों अपने शास्त्र के बाहर की किसी भी नई बात पर स्वतंत्र-रूप से विचार करने की बात तो दूर रही, वे दूसरे लोगों के ताजे

मानवीय विचारों को समझने में भी असमर्थ होते जाते हैं। खास बात तो यह है कि वे अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट समय जीवन के नियम को अर्थात् श्रम करने की आदत को भुलाने में ही खो देते हैं और बिना मेहनत किये ही संसार की चीजों का उपभोग करने का अपने को हकदार मानने लग जाते हैं और इस प्रकार बिलकुल निकम्मे और समाज के लिए हानिकारक बन जाते हैं। उनके दिमाग़ बिगड़ जाते हैं और विचारोत्पादन की शक्ति ही नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार उनकी शक्तियाँ दिन-ब-दिन कुन्द होती जाती हैं और धीरे धीरे उनके मन में एक प्रकार का आत्म-सन्तोष-सा हो जाता है, जिससे सीधे-सादे, और मेहनती जीवन तथा स्पष्ट स्वच्छ-साधारण और मानवीयता-भरी विचार-पद्धति की ओर उनके लौटने की सम्भावना सदा के लिए जाती रहती है।

३२
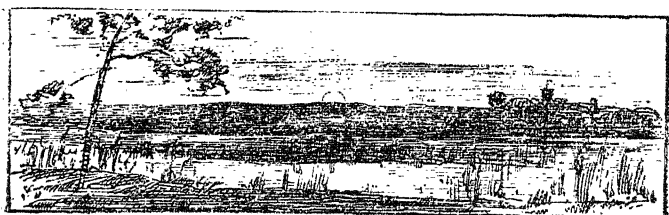
श्रम-विभाग संसार में हमेशा से चलता आया है और भविष्य में भी जारी रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। पर हमारे सामने श्रम-विभाग के जारी रहने का प्रश्न नहीं है, प्रश्न तो यह है कि श्रम-विभाग के औचित्य का निर्णय करने के लिए कौनसी कसौटी स्वीकार की जाय ? यदि हम निरीक्षण को कसौटी मानें, तो इसके अर्थ हैं कि हम औचित्य का निर्णय करने वाली कोई भी कसौटी नहीं मानते; क्योंकि मनुष्यों में जो कोई श्रम-विभाग हम प्रचलित देखेंगे और जो हमें ऊपरी दिखाव से ठीक मालूम पड़ेगा उसीको हम ठीक समझने लगेंगे। और इसी बात की ओर आजकल का सत्ताधारी वैज्ञानिक विज्ञान हमें ले जा रहा है।

बत्तीसवां परिच्छेद

श्रम-विभाग! कुछ लोग मानसिक और आध्यात्मिक श्रम करते हैं और कुछ शारीरिक। कितनी बे-बाक़ी के साथ लोग इस बात को कहते हैं? ये लोग ऐसा समझना चाहते हैं, उन्हें ऐसा मालूम भी होता है, कि यह सेवा का सुन्दर विनिमय-मात्र है; पर सच्ची बात तो यह है कि यह पुराने ज़माने से चले आने वाले बलात्कार का एक स्पष्ट स्वरूप है।

"तू या तुम लोग (क्योंकि एक आदमी को खिलाने वाले प्रायः अनेक आदमी होते हैं) मुझे खाना खिलाओ, कपड़े दो, और मेरी हर तरह की कठोर सेवा करो, जिसकी मुझे जरूरत है और जिसके करने का तुम्हें बचपन से ही अभ्यास है, और मैं बदले में तुम्हारे लिए वह मानसिक कार्य करूँगा कि जिसका मुझे खूब अभ्यास हो गया है। तुम मेरे शरीर को भोजन दो, और मैं तुम्हें आत्मिक भोजन प्रदान करूँगा।"

यह हिसाब मालूम तो ठीक होता है और सचमुच ही बहुत ठीक रहे, यदि सेवाओं का यह विनमय स्वेच्छा-पूर्वक हो और वे लोग, जो शारीरिक भोजन देते हैं, आध्यात्मिक भोजन मिलने के पहले ही उसे देने के लिए बाध्य न किये जायँ। आध्यात्मिक भोजन का उत्पादक कहता है—'मैं तुम्हें आध्यात्मिक भोजन देने लायक बनूँ, इसके लिए यह जरूरी है कि तुम मुझे खाना कपड़ा दो और मेरे घर को साफ़ रक्खो।'

किन्तु शारीरिक भोजन का उत्पादक कोई ऐसा दावा नहीं कर सकता, उसे तो शारीरिक भोजन देना ही होता है—चाहे उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले। यदि विनिमय स्वतंत्र और स्वेच्छा-पूर्वक होता तो दोनों ओर की शर्तें एक-सी रहतीं। हम मानते हैं कि मनुष्य के लिए आध्यात्मिक भोजन उतना ही जरूरी है, जितना शारीरिक भोजन। किन्तु विद्वान, और कलाविज्ञ कहते हैं—पेश्तर इसके कि हम लोगों को आध्यात्मिक भोजन दें, हमें ऐसे आदमियों की जरूरत है, जो हमारे लिए शारीरिक भोजन का प्रबन्ध करते रहें।

किन्तु शारीरिक भोजन के उत्पादक भी तो यह कह सकते हैं न, कि 'पेश्तर इसके कि हम तुम्हें शारीरिक भोजन दें, हमें आध्यात्मिक भोजन मिलना चाहिए और जब तक वह हमें मिल न जायगा उस समय तक हम कोई श्रम नहीं कर सकते' ?

तुम कहते हो कि मैं जो आध्यात्मिक भोजन देना चाहता हूँ उसे तैयार करने के लिए किसान, लोहार, मोची, बढ़ई, राज तथा अन्य लोगों के श्रम की जरूरत है।

प्रत्येक श्रमिक भी इसी तरह कह सकता है—पेश्तर इसके कि मैं तुम्हारे लिए भोजन पैदा करने जाऊँ, मुझे आत्मिक ज्ञान चाहिए। मन लगा कर मेहनत करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए धार्मिक शिक्षा, सामाजिक सुव्यवस्था, काम के समय उप-

योग करने के लिए ज्ञान और कला द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द और आश्वासन—ये सब मुझे अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होते हैं। जीवन का अर्थ खोज निकालने का मुझे समय नहीं है, इसलिए वह तुम मुझे बता दो। अन्याय न होने देने वाले नियमों को बनाने का भी मुझे समय नहीं है, इसलिए वे भी मेरे लिए बना दो। यंत्र-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, रसायन, शिल्प विद्या—इन सबका अध्ययन करने लायक मेरे पास समय नहीं है, इसलिए मुझे कुछ ऐसी पुस्तकें दो, जिनसे मैं अपने औजारों को, कार्य-पद्धति को, घरों को और गरमी तथा प्रकाश प्राप्त करने की पद्धति को सुधार सकूँ। साहित्य, संगीत और कला के अध्ययन में व्यतीत करने के लिए मेरे पास समय नहीं है, इसलिए आवश्यक जीवनोपयोगी प्रेरणा तथा आनन्दमय आश्वासन मुझे दो। कला की कृतियाँ मुझे प्रदान करो।

तुम कहते हो कि जो मजदूर लोग तुम्हारा काम कर देते हैं वे यदि न हुए तो तुम अपना महत्वपूर्ण और आवश्यक काम न कर सकोगे; और मैं कहता हूँ कि एक मजदूर भी इसी प्रकार यह घोषित कर सकता है कि यदि मुझे अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की माँग के अनुसार धार्मिक शिक्षण, एक उचित राज-व्यवस्था—जो मेरी मेहनत के फल को सुरक्षित रख सके—मेहनत की कठोरता को मधुर बनाने वाला ज्ञान और उसे स्फूर्ति प्रदान

करने वाला कला का आनन्द नहीं मिलता, तो मेरे लिए यह असम्भव है कि मैं अपना महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य कर सकूँ, जो तुम्हारे कामों से कम महत्वपूर्ण और आवश्यक नहीं है—जैसे हल जोतना, मैला उठाकर ले जाना और तुम्हारे घरों का साफ करना। अभी तक तुमने आध्यात्मिकता के नाम पर जो कुछ मुझे दिया है, वह मेरे लिए नितान्त निरुपयोगी है। इतना ही नहीं, मैं तो यह भी नहीं जानता कि वह कभी भी किसी प्रकार उपयोगी हो सकता है। और जब तक कि मुझे यह खूराक नहीं मिल जाती, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है, तब तक मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन पैदा नहीं कर सकता।

कैसा रहे, यदि किसान, कारीगर और मज़दूर लोग ऐसा कहने लगें ? और यदि वे ऐसा कहें, तो यह कोई मज़ाक नहीं बल्कि बिलकुल सीधी-सादी न्यायोचित बात होगी। यदि श्रमिक ऐसा कहे तो वह बुद्धिजीवी मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य पर होगा; क्योंकि श्रमिकों द्वारा की गई मेहनत बुद्धि-जीवी मनुष्य की मेहनत की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक और अनिवार्य है और इसलिए भी कि बुद्धि-जीवी जो आध्यात्मिक भोजन देने का अभिवचन देता है वह यदि दे तो उसे कोई अड़चन न होगी; पर मज़दूर को शारीरिक भोजन देने में एक अड़चन होती

है और वह यह कि उसके पास जो भोजन-सामग्री है, वह खुद उसके ही लिए काफी नहीं है।

यदि मजदूर लोग हमसे यह सरल और न्यायोचित बात कहें तो हम बुद्धि-जीवी लोग क्या उत्तर देंगे? हम उनको किस प्रकार सन्तोष देंगे? उनकी धार्मिक शिक्षा की माँग को क्या हम अपने मठों और मन्दिरों में जो कुछ होता है उसे देकर पूरा करेंगे? सामाजिक सुव्यवस्था की माँग पर क्या हम उन्हें कानूनी पुस्तकें देकर सन्तुष्ट करेंगे, या प्रत्येक प्रकार के विभाग के फैसलों अथवा कमिटियों और कमीशनों की रिपोर्टों से? उनकी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए क्या हम नक्षत्रों और ग्रहों की बनावट, आकाश-गंगा का हाल, काल्पनिक भूमिति, सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा की हुई शोधों, आत्म-अनात्मवाद तथा घटाकाश-पटाकाश का वितण्डावाद और वैज्ञानिक विद्यालयों की प्रकृति पेश करके उन्हें सन्तुष्ट करेंगे? और उनकी कला-सम्बन्धी माँग के लिए हम क्या करेंगे? क्या हम अपने प्रसिद्ध कलाविज्ञों की पुस्तकें उनके सामने रक्खेंगे? अथवा फ्रान्स देश के तथा अपने कलाविज्ञों के बनाये हुए नग्न स्त्रियों के चित्र, साटिन और मखमल से सजे हुए दीवानखानों के प्राकृतिक दृश्यों अथवा गार्हस्थ-जीवन के चित्र उनके सामने रक्खेंगे? इनमें से कोई भी चीज उनके काम की नहीं है, और न कभी किसी के काम आ ही

सकती है; क्योंकि हम लोग दूसरों के श्रम पर जीवित रहने का अधिकार प्राप्त करके और मजदूरों के लिए आध्यात्मिक भोजन तैयार करने की ज़िम्मेवारी महसूस न करके उस लक्ष्य को ही बिलकुल भूल गये कि जिसकी ओर हमारी सारी प्रकृतियाँ प्रेरित की जानी चाहिएँ।

हमें तो इस बात का पता तक नहीं है कि श्रमी-वर्ग को किस बात की ज़रूरत है; हम उनके जीवन के ढंग को, उनके विचारों को और उनकी भाषा को भी तो भूल गये हैं। हम तो उनके अस्तित्व को ही एकदम विस्मृत कर बैठे हैं और किसी नये निकले हुए प्रदेश अथवा किसी नवीन जाति की भाँति हम उनका अध्ययन करने बैठते हैं। अपने लिए शारीरिक भोजन की व्यवस्था कराके हमने आध्यात्मिक भोजन की तैयारी का भार अपने ऊपर लिया था। किन्तु उस कल्पित श्रम-विभाग के परिणाम-स्वरूप कि जिसके अनुसार हम काम करने से पहले भोजन कर सकते हैं, इतना ही नहीं पीढ़ियों तक बिना काम किये खूब ऐशो-आराम के साथ रह सकते हैं, हमने अपने भोजन के एवज़ में कुछ चीज़ें तैयार कीं, जो हमें अपने तथा कला-विज्ञान के लिए उपयोगी मालूम होती हैं; किन्तु जो उन लोगों के तो किसी मसरफ़ की नहीं कि जिनकी मेहनत से हम इस बहाने लाभ उठाते हैं कि बदले में हम मानसिक तथा आध्यात्मिक भोजन उन्हें देंगे, और

हमारी बनाई हुई ये चीजें उनके काम की नहीं। इतना ही नहीं बल्कि वे कुछ ऐसी हैं, जो उनकी समझ में ही नहीं आतीं और जिन्हें वे बुरा समझते हैं।

हमने जो कर्तव्य अपने लिए स्वीकार किया था उसे हम अपनी अन्धतावश इतना विस्मृत कर बैठे कि हमें यह भी याद न रहा कि हम जो काम करते हैं वे किस लिए कर रहे हैं; और जिन लोगों की सेवा का भार हमने अपने ऊपर लिया था उन्हींको हम अपनी वैज्ञानिक तथा कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का विषय बनाते हैं। हम उनका अध्ययन करते हैं और अपने विनोद के लिए उनके जीवन को चित्रित करते हैं। हम बिलकुल भूल गये कि उनका अध्ययन करना तथा उनके जीवन को चित्रित करना नहीं, उनकी सेवा करना हमारा धर्म है।

हमने अपने स्वीकृत कर्तव्य को ध्यान से इतना उतार दिया है कि हमने इस बात को भी नहीं देखा कि विज्ञान और कला सम्बन्धी जिस कार्य का भार हमने लिया था उसे बहुत से दूसरे लोग कर रहे हैं और हमारा स्थान भरा हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि हम लोग इधर इस बहस में पड़े रहे कि बीज-विहीन सृष्टि होती है कि नहीं, जीवों की स्वयम्भू उत्पत्ति कैसे होती है? भूत-विद्या तथा परमाणुओं के स्वरूप की तथा ऐसी ही अनेकों बातों की चर्चा में लगे रहे; उधर लोगों को आध्यात्मिक भोजन की

आवश्यकता महसूस हुई, इसलिए विज्ञान की दृष्टि में जो तिरस्कृत और बहिष्कृत लोग थे उन्होंने इस काम को हाथ में लिया और लोगों की योग्यतानुसार उन्हें आध्यात्मिक भोजन देने लगे। यूरोप में लगभग ४० वर्ष से और रूस में १० वर्ष से सैकड़ों पुस्तकें, चित्र और गीत छप कर बँट रहे हैं, जिन्हें लोग पढ़ते हैं और गाते हैं और उनसे आध्यात्मिक शान्ति पाते हैं। किन्तु ये सब बात उन लोगों के द्वारा नहीं होती कि जिन्होंने आध्यात्मिक भोजन देने का ठेका लिया था। और हम लोग, जो इसी काम की रोटी खाते हैं, कुछ करते-धरते नहीं; चुपचाप बैठे देखा करते हैं।

हम किसी खास विषय के विशेषज्ञ हैं और हमारा एक खास काम है। हम लोगों के दिमाग हैं। वे हमें भोजन देते हैं और हमने उनको शिक्षा देने का भार अपने जिम्मे लिया है। इसी शिक्षा के कारण हम शारीरिक श्रम से मुक्त हुए हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि हमने उन्हें क्या शिक्षा दी है? लोगों ने दसियों-बीसियों-सैकड़ों वर्षों तक राह देखी, पर हम अभी तक आपस में ही वाद-विवाद कर रहे हैं, एक दूसरे से विनोद करते हैं, और विद्वानों को ही सिखाने-समझाने की कोशिश करते हैं। उन लोगों को तो हम बिलकुल भूल ही गये, इतना भूल गये कि दूसरे लोगों ने इन श्रमिकों को सिखाने-पढ़ाने और

रिझाने का काम अपने जिम्मे ले लिया और हम श्रम-विभाग की वाहियात बातों में ऐसे व्यस्त रहे कि हमें इस बात का पता भी न चला। इन सब बातों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि लोगों के लिए अत्यन्त उपयोगी होने की जो बड़ी-बड़ी बातें हमने की थीं वे और कुछ नहीं, निर्लज्ज बहाना-मात्र थीं।

एक समय था, जब हमारे समाज का आध्यात्मिक जीवन धर्माचार्यों के हाथ में था। धर्माचार्यों ने लोगों को सुखी बनाने का जिम्मा लिया और इसके बदले में अपने को जीवन-संघर्ष में योग देने से मुक्त कर लिया, जो जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य है।

किन्तु ज्योंही ऐसा हुआ, धर्माचार्य अपने काम को छोड़ बैठे और लोग उनसे विमुख हो गये। चर्च का जो सर्वनाश हुआ, वह वस्तुतः उसके कुकर्मों की वजह से नहीं हुआ, वह इसलिए हुआ कि कान्स्टनटाइन के ज़माने में राज्य-शक्ति पाकर चर्च के धर्माचारियों ने श्रम के नियम को भंग किया—और उसके

परिणाम-स्वरूप जो आलस्य और विलासिता उनमें घुसी, उसीने उन ग़लतियों, उन कुकर्मों को जन्म दिया।

ज्योंही चर्च को श्रम से मुक्ति मिली और उसके हाथ में शक्ति आई, त्योंही, उसने उस मानव-समाज की सेवा का खयाल को छोड़ दिया कि जिसकी सेवा का भार उसने अपने ऊपर लिया था और केवल निजी स्वार्थ-साधन में लग गया। चर्च के अधिकारी आलस्य और विलास में फँस गये।

इसके बाद राज-तंत्र ने लोक-जीवन का नेतृत्व ग्रहण किया। उसने समाज के लिए न्याय, शान्ति, संरक्षण, व्यवस्था, शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति आदि का भार अपने ज़िम्मे लिया और इसके बदले में राज के सेवकों ने जीवन-संघर्ष में योग देने के कर्तव्य से अपने को मुक्त कर लिया और राज्य-तंत्र के सेवकों को ज्योंही दूसरों के श्रम का उपयोग करने का अधिकार मिल गया त्योंही उन्होंने भी चर्च के अधिकारियों की तरह व्यवहार करना शुरू कर दिया।

तब लोग उनके ध्यान से उतर गये और राजा से लेकर छोटे से-छोटे सिपाही तक ने अपने को आलस्य और दुराचार के हाथों में सौंप दिया और वह कहीं एक जगह नहीं—रोम, फ्रांस, इंग्लैण्ड, रूस, और अमेरिका—सभी जगह हुआ। अब लोगों का

राज्य पर से विश्वास उठ गया है और वे अराजकता को आदर्श मान कर उसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

राज्य-शक्ति की सहायता पाकर कला और विज्ञान ने भी बिलकुल ऐसा ही किया। उन्होंने राज्य को क़ायम रखने का वचन दिया और अपने लिए बिना कुछ श्रम किये दूसरों के श्रम से लाभ उठाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस प्रकार वे अपने कर्तव्य से च्युत हुए। इनमें जो खराबियाँ पैदा हुईं, वे भी इसीलिए कि भ्रमात्मक श्रम-विभाग की कल्पना के अनुसार उन्होंने दूसरों के श्रम पर जीने का अधिकार माँगा और इस प्रकार अपने जीवन का ध्येय भूल बैठे। उन्होंने लोक-हित को अपनी प्रवृत्तियों का लक्ष्य न बना कर कला और विज्ञान की कुछ विचित्र बातों को अपना ध्येय बनाया। और अपने पूर्ववर्ती धर्माचार्यों तथा राज्याधिकारियों की भाँति वे आलस्य और दुराचार में फँस गये—यह ठीक है कि इनका पतन केवल बौद्धिक है, क्योंकि शारीरिक बुराइयों में ये अपने पूर्ववर्ती लोगों की तरह व्यस्त नहीं हुए।

यह कहा जाता है कि विज्ञान और कला ने मनुष्य-समाज के लिए बहुत काम किया है। और यह ठीक है।

किन्तु एक बात ध्यान में रखने लायक़ है कि चर्च और राज-तेज द्वारा भी लोगों को बहुत लाभ पहुँचा। किन्तु वह

इसलिए नहीं कि उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया, और न इसलिए कि उनके संचालकों और सेवकों ने मनुष्य-जीवन के लिए साधारणतः अनिवार्य श्रम-धर्म को छोड़ दिया था; बल्कि इसलिए कि उनके अन्दर ऐसे लोगों की भी संख्या पर्याप्त रही, जो ईमानदार और अपने कर्तव्य के प्रति सच्चे थे।

विज्ञान और कला के सम्बन्ध में भी यही बात है। विज्ञान और कला ने संसार के लिए बहुत कुछ किया है; किन्तु जो कुछ हुआ है वह इसलिए नहीं कि इन विद्याओं से सम्बन्ध रखने वालों को पुराने ज़माने में कभी-कभी और आजकल हमेशा अपने को श्रम से मुक्त करने का मौक़ा मिला, बल्कि इसलिए कि कुछ प्रतिभा-शाली पुरुष अपने इन अधिकारों को काम में न लाकर मनुष्य-समाज की प्रगति को आगे बढ़ाते रहे हैं। रोम का प्रजा-तंत्र इतना बलवान था, इसका कारण यह नहीं था कि उसके नागरिक व्यभिचारी जीवन व्यतीत कर सकते थे। उसकी उन्नति का कारण तो यह था कि उसमें बहुत से सुयोग्य और चरित्रवान लोग थे। कला और विज्ञान के लिए भी यही बात है।

विद्वानों और कलाविज्ञों का जो वर्ग झूठे श्रम-विभाग के आधार पर दूसरे लोगों के श्रम से लाभ उठाने का अधिकार माँगता है वह सच्चे विज्ञान और सच्ची कला की प्रगति को सहायता नहीं दे सकता, क्योंकि झूठ सत्य को पैदा नहीं कर सकता।

हम अपने इन खा-पीकर मस्त रहने वाले किंतु निर्बल और अशक्त बुद्धिजीवी लोगों की स्थिति के कुछ इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि यदि हम किसी विद्वान् अथवा कला-विज्ञ को हल जोतते तथा खाद की गाड़ी हाँकते हुए देखें तो यह बात हमें बड़ी अजीब-सी मालूम होगी। हम समझते हैं कि यदि वह ऐसा करेगा तो वह नष्ट हो जायगा, उसकी सारी विद्वत्ता उसमें से निकल जायगी, और उसने अपने हृदय में जिन कलामय मूर्तियों की कल्पना कर रक्खी हैं वे खाद से मैली हो जायँगी। सचमुच इस स्थिति के हम इतने आदी हो गये हैं कि हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होता कि हमारे विज्ञानाचार्य—अर्थात् वे लोग जिनका काम सत्य की शोध और उसका प्रचार करना है—दूसरे लोगों को अपने निजी काम करने के लिए बाध्य करते हैं, जिन्हें वे स्वयं मजे में कर सकते हैं और अपना बहुत सा समय खाने-पीने, हुक्का सिग्रेट पीने, वाग्विनोद, उपन्यास और पत्र पढ़ने तथा नाटक-सिनेमा देखने में गुजार देते हैं। हम अपने दार्शनिकों को होटल, नाटक या नाच में देखते हैं तो हमें आश्चर्य नहीं होता। हम जब सुनते हैं कि कलाविज्ञ लोग कि जो हमारी आत्मा को आनन्द और स्फूर्ति प्रदान करते हैं, शराब पीते हैं, ताश खेलते हैं, दुश्चरित्र स्त्रियों की संगति में जीवन व्यतीत करते हैं, या इनसे भी बुरे-बुरे काम करते हैं, तो हमें आश्चर्य नहीं होता!

विज्ञान और कला सुन्दर चीजें हैं। यह ठीक है और इसी-लिए तो और भी उन्हें दुराचार के संसर्ग से दूषित नहीं करना चाहिए; अर्थात् मेहनत करके अपनी और दूसरों की सेवा करके जीवन सुधारने का जो प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है उससे अपने को मुक्त करके कर्तव्य-भ्रष्ट न होने देना चाहिए।

विज्ञान और कला ने संसार की बहुत उन्नति की है। हाँ, की है। किन्तु यह उन्नति इस तरह नहीं हुई है कि विज्ञान और कला से सम्बन्ध रखने वाले लोगों ने अपने उपदेश से ही नहीं, अपने आचरणों से लोगों को बलात्कार की शिक्षा दी है; यह बताया है कि हाथ से मेहनत करके प्रकृति के साथ सतत होते रहने वाले जीवन-संघर्ष में योग देने का जो सर्व-प्रथम और निस्संदिग्ध मानवी कर्तव्य है, उससे अपने को मुक्त करने के लिए दूसरों के दुःख-दर्द की पर्वा न करके जबरदस्ती उनके कष्ट-साध्य श्रम का उपभोग किया जा सकता है।

किन्तु, आप कहेंगे, आज जो असाधारण सफलता और प्रगति विज्ञान और कला में हम देख रहे हैं वह उसी श्रम-विभाग का ही तो फल है कि जिसके अनुसार वैज्ञानिक तथा कलाविज्ञ लोग अपनी आजीविका उपार्जन करने के कर्तव्य से मुक्त कर दिये जाते हैं।

यदि प्रत्येक मनुष्य के लिए हल जोतना लाज़िमी होता तो इतनी ज़बरदस्त उन्नति होना असम्भव था। प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता बढ़ाने वाली ये आश्चर्यजनक सफलतायें आपको न मिल पातीं। मनुष्यों को आश्चर्य में डालने वाली ज्योतिष-सम्बन्धी वे शोधें आपको न मिलतीं कि जिनसे जहाज़ चलाने में मदद मिल रही है। इसके बिना ये जहाज़, रेल, तार, पुल, पहाड़ी सुरंगें,

फ़ोटो, टेलीफ़ोन, सीने की मशीनें, फ़ोनोग्राफ़ आदि बाजे, बिजली, दूरदर्शी यंत्र, सूक्ष्म-दर्शी यंत्र, दूर की चीजें अर्थात् तारे आदि किन तत्त्वों के बने हैं, इस बात को बताने वाले यंत्र, क्लोरोफ़ार्म, कारबोलिक एसिड आदि कहाँ से आते ?

मैं यहाँ उन सब चीज़ों को गिनाने की चेष्टा न करूँगा कि जिनपर हमारी शताब्दी को गर्व है; यह गिनती और हमारे महान् कार्यों का बखान किसी भी समाचारपत्र और लोकप्रिय पुस्तक में आसानी से देखने को मिल सकता है। हम इन बातों की बार-बार चर्चा करते हैं और अपनी प्रगति पर ऐसे फ़िदा हो रहे हैं कि अपनी तारीफ़ करते नहीं अघाते। ऐसा मालूम होता है कि सचमुच हम यह विश्वास करने लग गये हैं कि विज्ञान और कला की हमारे ज़माने में जैसी उन्नति हुई है वैसी पहले कभी नहीं हुई। और चूँकि यह सब प्रगति इसी श्रम-विभाग के कारण हुई है, इसलिए यह कैसे हो सकता है कि हम उसका समर्थन न करें ?

थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि हमारे देश की उन्नति वास्तव में असाधारण और आश्चर्यजनक है, यह भी मान लें कि यह हमारे लिए परम-सौभाग्य की बात है कि हम ऐसे असाधारण समय में रह रहे हैं। किन्तु आज जिन सफलताओं पर हम इतने फूल रहे हैं उनका वास्तव में कितना मूल्य है, यह हमें देखना

चाहिए और इसकी जाँच हमें अपने आराम और सन्तोष को देखकर नहीं वरन श्रम-विभाग के उसी सिद्धान्त के अनुसार करनी चाहिए। अर्थात् हमें यह देखना होगा कि वैज्ञानिकों का बौद्धिक श्रम उन लोगों को कितना फ़ायदा पहुँचाता है कि जिनके सिर पर अपना बोझ डाल कर वे अपने को श्रम के कर्तव्य से मुक्त कर लेते हैं।

निस्सन्देह, प्रगति तो आश्चर्यजनक हुई है; किन्तु किसी दुर्भाग्य के कारण, जिसे वैज्ञानिक लोग भी मानते हैं, उससे अभी तक मज़दूर लोगों की स्थिति सुधरी नहीं उलटी कुछ बिगड़ ही गई है।

यह ठीक है कि एक मज़दूर आज पैदल चलने के बजाय रेल में सफ़र कर सकता है; किन्तु यही वह रेल है, जिसके कारण उसके जंगल जला दिये गये हैं और उसकी आँखों के सामने से उसकी रोटी लेकर बहुत दूर पहुँचा दी गई है और उसे इस दशा को पहुँचा दिया है कि वह रेल के मालिकों का क़रीब-क़रीब गुलाम-सा बन गया है।

भाफ के इंजिनों और मशीनों की कृपा से आज वह सस्ता और खराब कपड़ा खरीद सकता है सही, किन्तु इन्हीं इंजिनों और मशीनों के बदौलत तो उसकी रोटी छिन गई है और वह कारखाने के मालिकों का क्रीतदास हो रहा है।

यह ठीक है कि तार का उपयोग करने की उसे मनाई नहीं है; पर वह उसका उपयोग नहीं करता, क्योंकि उसके पास इतने पैसे ही नहीं हैं। किन्तु इस तार-बर्की की ही बदौलत उसे यह मालूम होने से पहले ही कि उसकी चीज़ की इस समय माँग है और उसकी क़ीमत बढ़ गई है, उसकी आँखों के आगे ही धनिकों के द्वारा सस्ते मूल्य पर उसकी चीजें खरीद ली जाती हैं।

आज टेलीफोन, टेलिस्कोप, उपन्यास, सिनेमा, चित्र-शालायें आदि बहुत सी चीजें मौजूद हैं; किन्तु मजदूर को इनसे कुछ लाभ नहीं मिल पाता, क्योंकि ये चीजें उसकी हेय आर्थिक अवस्था के कारण उसकी पहुँच से बाहर हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन आश्चर्य-जनक शोधों, आविष्कारों और कला-मय कृतियों ने मजदूरों के जीवन को यदि हानि नहीं पहुँचाई है तो कम-से-कम उनके जीवन में सुधार तो नहीं ही किया है—और इस बात पर सब वैज्ञानिक सहमत हैं।

इस तरह हम अपने स्वार्थ और सुख-सन्तोष की बात छोड़-कर यदि आजकल के विज्ञान और कला की सफलता को उसी कसौटी पर कसें—अर्थात् श्रमिक वर्ग की उपयोगिता की दृष्टि से देखें कि जिसके कारण वर्तमान श्रम-विभाग का समर्थन किया जाता है, तो हमें पता चलेगा कि हम जो इतना सन्तोष प्रकट करते हैं उसका वास्तव में कोई कारण नहीं है।

एक किसान रेल की सवारी करता है, किसान की स्त्री कपड़ा ख़रीदती है, झोंपड़ी में मिट्टी के तैल का दीपक जलता है और किसान दियासलाई के द्वारा अपनी बीड़ी पीता है—यह सब बड़ा अच्छा है; किन्तु इतने ही से हमें यह कहने का अधिकार कहां मिल जाता है कि रेल और कल-कारख़ानों से इन लोगों का कल्याण हुआ है ?

यदि कोई किसान रेल में सफ़र करता है, लैम्प, कपड़ा और दियासलाई ख़रीदता है, तो सिर्फ़ इसलिए कि हम उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकते; किन्तु यह बात तो हम सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि रेल और कल-कारखाने इन लोगों के लाभ के लिए नहीं बनाये गये थे। तब फिर राह चलते यदि कुछ लोगों को लाभ पहुँच जाता हो तो वह दलील इस बात को साबित करने के लिए कैसे पेश की जा सकती है कि ये चीज़ें लोगों के फ़ायदे के लिए बनी हैं ?

हम सब लोग अच्छी तरह जानते हैं कि इंजीनियर और पूँजी-पति रेल और कल-कारख़ाने बनाते समय मज़दूरों का ख़याल करते हैं तो केवल इसलिए कि उनका किस प्रकार अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है और इस बात में वे यूरोप में, अमेरिका में और रूस में भी पूरी तरह कामयाब हुए हैं।

प्रत्येक हानिकारक चीज़ के साथ कुछ लाभदायक बात भी

रहती है। घर में आग लग जाने पर हम वहाँ जाकर ताप सकते हैं और कोई जलती हुई लकड़ी उठाकर हम बीड़ी भी सुलगा सकते हैं। पर क्या इन लाभों के कारण हम यह कहते हैं, या हमें ऐसा कहना चाहिए, कि आग लग जाना उपयोगी है ?

हम चाहे सो करें, पर हमें अपने को धोखे में नहीं डालना चाहिए। रेल और कल-कारखाने तथा मिट्टी का तेल और दियासलाई किस लिए निर्माण होते हैं, और पैदा किये जाते हैं, यह सब हम जानते हैं। एक शिल्पी जब रेल बनाता है तो या तो वह सरकार के लिए बनाता है, जिससे युद्ध में आसानी हो, या पूंजीपतियों को आर्थिक लाभ पहुँचाने की खातिर। वह जब कोई मशीन बनाता है, तो वह अपने और पूँजीपतियों के लाभ को ही दृष्टि में रखकर बनाता है।

वह जो कुछ बनाता है, या सोचता है, वह सब सरकार, पूँजीपति तथा धनिक लोगों के लिए ही करता है। उसके जो सबसे अधिक चातुर्य-पूर्ण आविष्कार होते हैं, वे या तो तोप, बन्दूक, नौका-नाशक यंत्र और क़ैदखानों की भाँति लोगों को एकदम हानि पहुँचाने वाले ही होते हैं; या फिर वे केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि उनकी पहुँच से बिलकुल बाहर होते हैं—जैसे बिजली की रोशनी, टेलीफ़ोन, और ऐशो-आराम की अनेकों चीज़ें; या फिर वे ऐसी चीजें होती है, जो उन्हें पतित बना

देती हैं और उनकी जेब से अन्तिम पाई तक निकाल लेती हैं—जैसे शराब, अफ़ीम, तम्बाकू, जेवर आदि चमक-दमक वाली शौक़ीनी की तथा ऐसी ही अन्य बहुत सी छोटी-मोटी चीजें ।

विज्ञान और कला के पुजारी तभी यह बात कह सकते थे कि उनकी प्रवृत्ति लोकोपयोगी है, जब कि उन्होंने लोगों को लाभ पहुँचाने के लिए ही उन कामों को किया होता, जैसा कि वे आजकल सरकार और पूँजीपतियों की सेवा को लक्ष्य में रख कर अपनी प्रवृत्तियों को संचालित कर रहे हैं ।

हम ऐसा उसी हालत में कह सकते थे कि जब वैज्ञानिकों और कला-विज्ञों ने लोगों की आवश्यकताओं को अपनी दृष्टि में रख कर काम किया होता । किन्तु बात ऐसी नहीं है ।

विद्वान लोग तो अपने-अपने पवित्र कामों में लगे हुए हैं । वे परमाणुओं के पृथक्करण और सितारों के रंग से उनके तत्त्वों को पहचानने की क्रिया में तथा ऐसी ही शोधों में व्यस्त रहते हैं; किन्तु कुल्हाड़ी किस प्रकार बनाई जाय, किस प्रकार की कुल्हाड़ी से लकड़ी काटना अच्छा है, कौन-सा आटा अधिक अच्छा होता है, किस प्रकार के आटे की रोटी बनाई जाय, आटा किस प्रकार गूँदा जाय, खमीर किस प्रकार उठाया जाय, अँगीठी किस प्रकार बनाई और गरम की जाय, किस प्रकार के खाने-पीने और बर्तन आदि का उपयोग अधिक लाभदायक

होगा और इन चीज़ों को आसानी से कैसे तैयार किया जा सकता है—इन बातों की ओर विज्ञान कभी ध्यान देने का कष्ट ही नहीं उठाता और कभी ध्यान देता भी है तो बहुत थोड़ा।

किन्तु सच पूछिए तो यह सब विज्ञान के ही काम हैं।

मैं जानता हूँ कि खुद अपनी ही व्याख्या के अनुसार विज्ञान व्यर्थ होना चाहिए, उसका कोई लक्ष्य—अर्थात् उपयोगिता का ख़याल-न होना चाहिए। किन्तु यह तो एक धृष्टतापूर्ण बहाना मात्र है।

विज्ञान का काम लोगों की सेवा करना है। हमने तार, टेलीफोन, फोनोग्राफ़ तो बनाये; किन्तु लोगों के जीवन में हमने कौन सा सुधार और कौन सी उन्नति की ? हमने कीड़ों को लाखों की संख्या में खोज निकाला, तो इससे क्या, बहुत पुराने ज़माने से जो पालतू जानवर चले आते हैं उनमें हमने एक भी जानवर की वृद्धि की ? अभी बहुत से जंगली पशु-पक्षी हैं, पर क्या हमने कभी उन्हें पालतू बनाने का उद्योग किया ?

बनस्पतिशास्त्रियों ने कोष्टकों (Cells) की शोध की, कोष्टकों में से अणुओं को खोज निकाला, इन अणुओं में से किसी अन्य चीज़ को और उस अन्य चीज़ में से भी किसी अन्य चीज़ को खोजने की चेष्टा की।

ये काम तो सदा लगे ही रहेंगे और कभी ख़तम न होंगे;

इसलिए विद्वान् लोगों के पास उपयोगी और लाभदायक काम करने के लिए समय ही नहीं। यही कारण है कि प्राचीन-तम समय में गेहूँ और दालों आदि की खेती होती थी और अबतक आलू को छोड़ कर मनुष्य को पोषण देने वाले एक भी पौधे की अभि-वृद्धि नहीं हुई है और आलू की शोध का श्रेय भी वैज्ञानिकों को नहीं है। हमने जलमग्न नौका-नाशक यंत्र का आविष्कार किया, घर में नालियों की व्यवस्था की; किन्तु चर्खा, कर्घा, हल, कुल्हाड़ी, नाज निकालने का यंत्र, बाल्टियाँ और खेती तथा रोजमर्रा के इस्तै-माल की चीजें बिलकुल पहले ही जैसी हैं। यदि इनमें से किसी चीज में उन्नति हुई है तो वह विद्वानों द्वारा नहीं बल्कि बेचारे बिना पढ़े-लिखे लोगों के द्वारा ही हुई है।

कला के सम्बन्ध में भी यही बात है। बहुत से लोगों को महान् लेखक माना जाता है। हमने सावधानी के साथ उनके लेखों का विश्लेषण किया है; हमने उनपर ढेरों आलोचनायें लिखी हैं और उन आलोचनाओं पर अनेकों आलोचनायें लिखीं; हमने चित्रशालाओं में चित्रों का संग्रह किया औरकला के विभिन्न विभागों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन किया; हमने ऐसे मिश्रित वाद्य-संगीतों और नाट्य-संगीतों का आविष्कार किया है, जिन्हें स्वयं हम ही मुश्किल से सुन और समझ पाते हैं; किन्तु हमने लोक-प्रिय वाद्यों में, गीतों, में, कहानियों और लोगों के लिए रूपकों में

कितनी वृद्धि की है? हमने लोगों के लिए कौन से चित्र, कौन से गीत बनाये हैं?

पुस्तकें और चित्र प्रकाशित होते हैं सही, और हारमोनियम भी बनते हैं, किन्तु हमने इनके बनाने में कोई भाग नहीं लिया।

विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन क्षेत्रों में विज्ञान और कला को लोगों के लिए अधिक उपयोगी होना चाहिए वहीं, उन्हीं क्षेत्रों में, उन्होंने ग़लत रास्ता इख्तियार किया है और इसी कारण वे उपयोगी होने के स्थान पर हानिकारक हो उठे हैं। शिल्पी, यंत्रशास्त्री, शिक्षक, कलाकार और लेखक—इन सब के पेशे ऊपर से देखिए तो लोगों की सेवा के लिए बने हुए दिखाई देते हैं। किन्तु होता क्या है? आज जो कुछ हो रहा है, उससे लोगों को उलटी हानि पहुँचती है।

शिल्पी तथा यंत्र-शास्त्री को काम करने के लिए पूँजी चाहिए; बिना पूँजी के वे कुछ भी नहीं कर सकते। इनका सारा ज्ञान इस प्रकार का है कि उसका उपयोग करने के लिए अच्छी पूँजी और काफ़ी संख्या में मज़दूर चाहिएँ। खुद अपने खर्चे के लिए उन्हें प्रति वर्ष हज़ार-पन्द्रह सौ रुपये चाहिएँ। इसीलिए वे किसी गाँव में जाकर नहीं रह सकते, क्योंकि वहाँ उनको कोई इतना पारिश्रमिक न देगा। उनका पेशा ही उन्हें कुछ ऐसा बना देता है कि वे लोगों की सेवा के लायक नहीं रहते।

पुल की महराब कितनी बड़ी है, यह वे उच्चगणित के द्वारा बता सकते हैं। इंजिन में ताक़त को मालूम करना और उस ताक़त को दूसरी मशीनों में संचालित कराना वे समझ सकते हैं; किन्तु साधारण शारीरिक श्रम करने में वे असमर्थ हैं। हल या गाड़ी की मरम्मत करना या उसमें सुधार करना नहीं जानते; नदी को किस प्रकार पाया व बनाया जा सकता है, इसका उन्हें बहुत ही कम पता है—यदि हम किसी साधारण किसान से उनकी स्थिति का मिलान करें।

वे इस जीवन को बिलकुल नहीं समझ पाते—उतना भी नहीं कि जितना ग़रीब से ग़रीब किसान समझता है। उनके लिए कारख़ाने और बहुत से आदमी काम करने के लिए चाहिएँ। बाहर से मशीनें भी मँगा दी जायें, तब वे अपना काम कर सकेंगे। किन्तु आज जो लाखों-करोड़ों किसान दुर्दशा-ग्रस्त हो रहे हैं, उनको किस प्रकार मदद दी जाय और उनकी कठोर ज़िन्दगी को किस तरह कुछ सुगम बनाया जाय, यह न तो वे जानते ही हैं और न ऐसा कुछ कर ही सकते हैं। इससे साफ़ मालूम होता है कि अपनी विद्वत्ता तथा अपनी आदतों और अपनी आवश्यकताओं के कारण वे इस काम के लायक बिलकुल ही नहीं हैं।

डाक्टरों की स्थिति तो और भी ख़राब है। उनकी कल्पित विद्या तो कुछ ऐसी है कि वह उन्हीं लोगों के रोगों को दूर कर

सकती है कि जो बिलकुल निकम्मे हैं और जो दूसरे लोगों की मेहनत का लाभ उठा सकते हैं। ठीक अपने विज्ञान के अनुसार काम करने के लिए तो उन्हें औज़ार, औषधि, स्वास्थ्यप्रद मकान, खाना, नालियाँ आदि कितनी ही खर्चीली चीज़ों की ज़रूरत है। अपनी फ़ीस के अलावा वे ऐसे खर्चों का मुतालबा करते हैं कि एक रोगी को अच्छा करने के लिए बेचारे सैकड़ों लोगों को भूखों मरना पड़ता है, क्योंकि वे मेहनत करके और अपना पेट काट-काट कर उसके लिए खर्चा जुटाते हैं।

इन लोगों ने बड़ी-बड़ी राजधानियों में बड़े-बड़े विद्वान लोगों से शिक्षा पाई है, जो सिर्फ ऐसे ही बीमारों का इलाज करते थे कि जिनको वे अस्पताल में रख सकते थे, पर जो स्वयं अपने पैसे से सब ज़रूरी दवाइयाँ तथा औज़ार खरीद कर रख सकते हैं और जो सलाह मिलते ही उत्तर से दक्षिण को जल-वायु के परिवर्तनार्थ जाने में समर्थ हों।

यह डाक्टरी विद्या इस प्रकार की है कि प्रत्येक गाँव का डाक्टर इस तरह की शिकायतें करता रहता है कि गाँव के ग़रीब किसानों और मज़दूरों का इलाज करना बड़ा मुश्किल है, क्योंकि स्वास्थ्यप्रद घर रहने के लिए वे नहीं पा सकते; कोई अस्पताल नहीं है, अकेले वह सारा काम नहीं देख सकता, उसे सहायता के लिए सबअसिस्टेन्ट-सर्जन की ज़रूरत है।

किन्तु वास्तव में इन सब बातों के अर्थ क्या हैं ?

इसके अर्थ यह हैं कि जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सकना ही लोगों के समस्त कष्टों का कारण है, यही बीमारियों का श्रोत है—इसीसे वे फैलती हैं और अच्छी नहीं हो पातीं। अब विज्ञान श्रम-विभाग के झंडे-तले खड़ा हुआ अपने समर्थकों को सहायता के निमित्त बुलाता है। विज्ञान तो अमीरों के चारों ओर सन्तोष के साथ अपना स्थान बना लेता है और उन लोगों को अच्छा करने की कोशिश करता है कि जो सभी जरूरी चीजें प्राप्त कर सकते हैं। और उसी पद्धति के अनुसार वह उन लोगों के औषध-उपचार के लिए भी भेजता है कि जिनके पास ज़रूरत के लायक भी पैसा नहीं है। किन्तु इन डाक्टरों के पास कोई साधन नहीं है और इसलिए वे साधन उन्हीं लोगों से इकट्ठे करने चाहिएँ, जो जल्दी ही बीमार हो जाते हैं और साधन न होने के कारण नीरोग नहीं हो सकते।

चिकित्सा-शास्त्र के समर्थक कहते हैं कि अभी तक यह विद्या पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई है।

अवश्य ही मालूम पड़ता है कि वह अभी विकसित नहीं हुई, क्योंकि यदि—ईश्वर न करे—यह कहीं विकसित हो गई और इसका अधिक प्रचार हुआ और ज़िले में दो डाक्टरों और

दाइयों तथा दो असिस्टेन्ट-सर्जनों के बजाय कहीं बीस-बीस डाक्टर भेजे गये, जैसा कि ये लोग चाहते हैं, तब इसका परिणाम यह होगा कि कोई इलाज, कराने वाला नहीं रहेगा। लोगों के लाभ के लिए वैज्ञानिक सहयोग बिलकुल दूसरी ही तरह का होना चाहिए और जैसा वास्तव में होना चाहिए वह अभी आरंभ भी नहीं हुआ है।

उसका प्रारम्भ तब होगा, जब विज्ञान वेत्ता, शिल्पी और डाक्टर लोग उस श्रम-विभाग को अथवा यों कहिए कि दूसरों के श्रम को छीन लेने की पद्धति को, कि जो आजकल प्रचलित है, उचित और न्याय समझना छोड़ देंगे और जब वे यह समझने लगेंगे कि हजारों-लाखों की तो बात ही नहीं, हजार-पाँच सौ की रकम भी अपनी सेवाओं के बदले में लेना अनुचित है और खास तौर पर उस समय जब कि विज्ञान-वेत्ता लोग मज़दूर लोगों के साथ बिलकुल उन्हींकी तरह हिल-मिल कर रहने लगेंगे और केवल सेवा-भाव से अपनी शिल्प-विद्या, कला-कौशल और औषध-ज्ञान का उपयोग लोगों के लाभ के लिए करेंगे।

किन्तु इस समय तो वैज्ञानिक लोग जो मज़दूरों की मेहनत पर जीवन व्यतीत करते हैं, सर्व-साधारण के जीवन की स्थिति को बिलकुल भूल गये हैं। जैसा कि वे खुद कहते हैं, वे उनकी

परिस्थिति की उपेक्षा करते हैं और फिर यह देख कर सचमुच अपने मन में बुरा मानते हैं कि उनके काल्पनिक ज्ञान और उपचार से लोगों का लाभ नहीं होता।

चिकित्सा-शास्त्र और शिल्प-शास्त्र तो वास्तव में अभी बिलकुल अछूते ही हैं। श्रम के समय को किस प्रकार विभक्त किया जाय, कौन-सा खाना अधिक उपयोगी होगा, किस तरह के कपड़े पहनना ज्यादा अच्छा है, सर्दी और नमी को किस प्रकार दूर किया जाय, बच्चों को किस तरह नहलाया-धुलाया जाय, किस तरह उन्हें दूध पिलाया जाय, किस तरह इनका पालन-पोषण किया जाय—ये प्रश्न हैं, जो मजदूरों की आजकल की स्थिति में आवश्यक मालूम होते हैं किन्तु जिनको आज तक किसी ने हल करने की कोशिश नहीं की।

वैज्ञानिक शिक्षकों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। विज्ञान ने शिक्षण का प्रबन्ध भी कुछ इस ढंग से किया है कि वैज्ञानिक पद्धति की शिक्षा केवल उन्हीं को प्राप्त हो सकती है कि जो धनिक हैं और इञ्जीनियरों व डाक्टरों की भाँति ये शिक्षक भी अनजान में अनयास ही धन की ओर आकर्षित हो जाते हैं और खास कर रूस देश के शिक्षक सरकार की ओर खिंच जाते हैं।

इसके सिवा और हो ही क्या सकता है ? क्योंकि बेच्चों,

ग्लोब, नकशों, पुस्तकालयों आदि से सज्जित सुव्यवस्थित स्कूल एक ऐसी चीज़ है कि जिसको जारी रखने के लिए लोगों पर लगान दोहरा कर देना पड़ेगा। और यह साधारण नियम है कि जितना ही अधिक वैज्ञानिक ढँग पर स्कूल चलाया जायगा उतना ही वह अधिक खर्चीला होगा। बस, विज्ञान की तो यह इच्छा है कि ये स्कूल चलें और कर दूना कर दिया जाय। अब बच्चों के लिए भी मेहनत करना जरूरी हो जाता है, क्योंकि नहीं तो लोग दोहरा कर अदा नहीं कर सकते—खास कर गरीब लोग। विज्ञान के समर्थक कहते हैं, 'शिक्षण से लोगों को अब भी फ़ायदा तो होता है, किन्तु यदि यह वृद्धि प्राप्त कर ले तो और भी अच्छा होगा।' किन्तु यदि इसकी ऐसी वृद्धि हुई कि आज जिन जिलों में प्रायः २० स्कूल होते हैं उनके बजाय १०० होने लगें, और सब वैज्ञानिक ढंग के, और यदि माता-पिता पर उनके सञ्चालन का खर्चा जुटाने का भार रहा तो वे और भी अधिक गरीब हो जायँगे और उन्हें अपने बच्चों से मेहनत कराने की और भी ज्यादा जरूरत हो जायगी।

तब फिर क्या किया जाय?

इसका वे यह उत्तर देंगे—'सरकार स्कूल स्थापित करेगी और शिक्षा अनिवार्य कर देगी, जैसा कि यूरोप के अन्य देशों में होता है।' किन्तु रुपया तो फिर भी लोगों ही से लिया जायगा

और इसलिए उन्हें मेहनत और भी अधिक करनी होगी, उनके पास समय और भी कम बचेगा, और इसलिए अनिवार्य शिक्षा सफल नहीं होगी।

इसका भी बस एक ही इलाज है—शिक्षक भी मजदूरों ही की तरह उनके साथ जाकर रहें और स्वेच्छा-पूर्वक उसे जो कुछ दे दिया जाय उसीको स्वीकार करके शिक्षा दें।

विज्ञान की यही ग़लत पद्धति और भ्रमात्मक मनःस्थिति है कि जिसके कारण वह लोगों की सेवा करने के कर्तव्य को पूरा करने से वञ्चित रह जाता है। किन्तु हमारे शिक्षित वर्ग की यह ग़लत भावना कला सम्बन्धी प्रवृत्तियों में और भी स्पष्टता-पूर्वक व्यक्त होती है।

विज्ञान तो अपना वह वाहियात बहाना पेश भी कर सकता है कि 'विज्ञान विज्ञान के लिए ही काम कर रहा है' और जब उसका पूरा विकास हो जायगा तब वह लोगों को प्राप्त होगा। किन्तु कला, यदि वह वास्तव में कला है, तो सभी को प्राप्य होनी चाहिए—विशेषतः उनको कि जिनके लिए वह बनी है। हमारी कला की दशा तो ऐसी हो रही है कि कला से सम्बन्ध रखने वाले लोगों पर यह दोषारोपण किया जा सकता है कि वे लोगों के लिए लाभदायक होना चाहते ही नहीं; लोगों को किस

प्रकार लाभ पहुँचाया जा सकता है, यह वे जानते नहीं; और लोकोपयोगी बनने की उनमें शक्ति नहीं है।

चित्रकार को अपनी महान् कृतियों को उत्पन्न करने के लिए एक खास कमरा चाहिए और वह इतना बड़ा होना चाहिए कि जिसमें कम से कम ४० बढ़ई या मोची काम कर सकते हों, जो आज स्थानाभाव से या तो सर्दी से ठिठुर रहे हैं या बन्द हवा में रहने के कारण दम घुट-घुटकर मर रहे हैं। परन्तु इतना ही काफ़ी नहीं है। अपनी कला को उन्नत और सुसंस्कृत बनाने के लिए उन्हें तो प्रकृति-निरीक्षण भी करना ही चाहिए और इसके लिए सैर जरूरी है, जिसके लिए पुष्कल धन और साधनों की आवश्यकता है। कलाशालायें कला को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए लोगों से ले-लेकर लाखों रुपया खर्च कर रही हैं। और मजदूरों के रुपये से संचालित कला की कृतियाँ महलों में लटकती हैं और जो न तो मजदूरों की समझ में आतीं और न जिनकी उन्हें कोई जरूरत ही है।

संगीतशास्त्री अपनी महान् कला और उत्कृष्ट विचारों का प्रदर्शन करें, इसके लिए सफेद नकटाइ वाले या विशिष्ट वेशधारी लगभग दो सौ आदमियों की एक सभा होनी चाहिए। संगीत-सभा का आयोजन करने के लिए वे हजारों रुपये खर्च करते हैं। किन्तु कला की ये बातें लोगों के लिए तो हमेशा ही उल-

हमें प्रत्येक गाँव में एक कला-शाला बनवानी पड़े, सङ्गीतज्ञों का प्रबन्ध करना पड़े और एक ग्रन्थकार को उस तरह का रखना पड़े कि जिस तरह का रहना कला की दृष्टि से अनिवार्य रूप से आवश्यक है, तो क्या हो ? मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि किसान लोग इस बात की कसम खा लेंगे कि वे कभी एक भी तस्वीर न देखेंगे, न कभी सङ्गीत सुनेंगे और न कविता या उपन्यास ही पढ़ेंगे। और यह कसम खानी पड़ेगी इसलिए कि इन व्यर्थ के निरुपयोगी जीवों का पेट भरने के लिए उन्हें बाध्य न होना पड़े।

किन्तु कला-प्रेमी लोग सर्व-साधारण की सेवा क्यों न करें ? प्रत्येक घर में पवित्र मूर्तियाँ और तस्वीरें होती ही हैं, किसान और किसानों की स्त्रियाँ गाती हैं, बहुतों के पास बाजे भी होते हैं और प्रायः सभी कथा-कहानियाँ और गीत जानते हैं, और कुछ लोग लिख-पढ़ भी सकते हैं। कला-सेवियों का और जन-साधारण का तो ऐसा अभिन्न सम्बन्ध है, जैसा ताले और कुंजी का; किन्तु न जाने कैसे यह एक दूसरे से इतनी दूर जा पड़े कि अब आपस में इन दोनों को मिलाने की कल्पना भी नहीं कर पाते ?

किसी चित्रकार से ज़रा यह कहिए तो कि तुम कला-शाला, नमूनों और वेष-भूषा के साधनों के बिना चित्र खींचो या पैसे-पैसे वाली तस्वीरें बनाओ, तो वह फौरन आपको कहेगा कि यह तो कला की हत्या करना है। किसी संगीतज्ञ से यह कहिए कि हार-

मोनियम बजा कर गाँव की स्त्रियों को गीत गाना सिखाओ, किसी कवि से यह कहिए कि वह इस तरह के काव्य उपन्यास और व्यंग लिखना छोड़ कर लोक-गीत बनाओ और ऐसी कहानियाँ लिखो, जो बिना पढ़े-लिखे लोगों की समझ में आ सकें—फ़ौरन ही वे कहेंगे कि आप पागल होगये हैं।

किन्तु क्या यह पागल होने से भी बदतर नहीं है कि जिन लोगों ने यह अभिवचन देकर अपने को श्रम-बन्धन से मुक्त कर लिया था कि वे उन लोगों के लिए आध्यात्मिक भोजन तैयार करेंगे कि जो उन्हें खिला-पिला रहे हैं, उनके कपड़ों का प्रबन्ध कर रहे हैं वे लोग जीवन की सामग्री प्राप्त करके अपने अभिवचन को एकदम ही भुला बैठे। यहाँ तक कि आज वे यह समझ भी नहीं सकते कि अपने अन्नदाताओं और पोषकों के योग्य आध्यात्मिक भोजन क्या है और वह किस प्रकार तैयार किया जा सकता है। और यह वादा-खिलाफ़ी—अपने अभिवचन को भूल जाना ही वे अपने लिए गौरव का कारण समझते हैं।

वे कहते हैं कि सभी कहीं ऐसा होता है। यदि सभी कहीं ऐसा होता है तो वह अन्यायपूर्ण और अनुचित है। और यह अन्यायपूर्ण उस समय तक कहा जायगा कि जब तक चतुर लोग श्रम-विभाग के बहाने लोगों को आध्यात्मिक भोजन देने का झूठा वादा करके केवल उनकी मेहनत पर अपने जीवन को बितायेंगे

चौंतीसवाँ परिच्छेद

विज्ञान और कला के द्वारा लोगों की वास्तविक सेवा तभी हो सकेगी कि जब विज्ञान और कला के प्रेमी गाँव में जाकर गाँव के लोगों ही की तरह उनके बीच में रह कर अपनी वैज्ञानिक और कला सम्बन्धी सेवायें बिना किसी प्रकार के मुआवज़े की इच्छा से खुशी-खुशी लोगों को अर्पित करेंगे और उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति भी बिलकुल उनकी मर्ज़ी पर छोड़ देंगे।
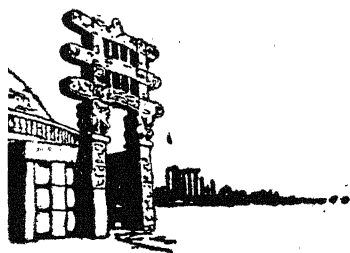
यह कहना कि विज्ञान और कला ने मिलकर मानव-समाज की बड़ी उन्नति की है, यह कहने के समान है कि पतवारों का ऊटपटांग सञ्चालन—जिससे वास्तव में धार पर बहनेवाली नौका की गति में बाधा पड़ती है—उस नौका की गति में सहायता दे रहा है, यदि विज्ञान और कला का मतलब उन्हीं प्रवृत्तियों से हो जो आजकल इस नाम से पुकारी जाती हैं। इससे तो प्रगति में केवल बाधा ही पड़ती है। यह नाममात्र का श्रम-विभाग कि जो दूसरों की मेहनत को जबरदस्ती हड़प कर जाना जायज बतलाता है और जो वैज्ञानिकों और कला-प्रेमियों के काम करने की पहली शर्त रहा करती है, वास्तव में मानव-समाज की प्रगति के सुस्त होने का मुख्य कारण रहा है और अब भी है।

इस बात का प्रमाण तो विज्ञान के इस इक़बाल में ही है कि विज्ञान और कला मेहनत-मजदूरी करनेवाले लोगों के लिए धन-विभाजन की अयोग्य पद्धति के कारण अप्राप्य है। और धन-विभाजन की पद्धति का यह अनौचित्य कला और विज्ञान की प्रगति में घटा नहीं उलटा बढ़ा ही है। यह कोई आश्चर्य करने की बात भी नहीं है, क्योंकि धन-विभाजन की यह अनुचित पद्धति उस श्रम-विभाग की ही बच्ची है जिसे वैज्ञानिक और कला-प्रेमी अपने-अपने स्वार्थ के लिए अच्छा बताते हैं और उसका प्रचार करते हैं।

विज्ञान इधर तो यह दावा करता है कि श्रम-विभाग एक अपरिवर्तनीय नियम है और इधर यह भी मानता है कि इस समय जो धन-विभाजन की पद्धति है वह गलत और हानिकारी है। किन्तु वह भूल जाता है कि यह धन-विभाजन तो इसी श्रम-विभाग पर अवलम्बित है और यह घोषित करता है कि उसकी प्रवृत्ति से, जो इस श्रम-विभाग को मानती है, सब कुछ ठीक हो जायगा और वह मनुष्य को सुख-शान्ति की ओर ले जायगी।

इसके तो यह अर्थ हुए कि आज जो लोग दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं वे दीर्घकाल तक और इससे कहीं बड़े पैमाने पर ऐसा ही करते रहें तो धन-विभाजन की यह गलत पद्धति अर्थात् दूसरों के श्रम का उपभोग करने की पद्धति दूर होजायगी।

'किन्तु विज्ञान और कला! तुम विज्ञान और कला की अवहेलना करते हो। अर्थात् तुम अवहेलना करते हो उस चीज की कि जिससे मनुष्य जीवित है।'

मैं सदा यह बात सुनता हूँ। यही कहकर लोग मेरी बातों को बिना उनपर कुछ गौर किये ही एक ओर टाल देते हैं।

'वह तो विज्ञान और कला की अवहेलना करता है, वह मनुष्यों को फिर वहशी बनाना चाहता है, तब फिर क्यों हम उसकी बात सुनें या उससे बहस करें?'

किन्तु यह अन्याय है। यही नहीं कि मैं विज्ञान और कला की अवहेलना नहीं करता, बल्कि सच्चे विज्ञान और सच्ची कला की खातिर ही मैं यह सब-कुछ लिखता और कहता हूँ। विज्ञान

को मैं उचित मानवीय प्रवृत्ति मानता हूँ और कला को उस प्रवृत्ति की अन्तःस्फूर्ति समझता हूँ और इनके नाम पर ही मैं आजकल के नामधारी विज्ञान और कला की आलोचना करता हूँ, ताकि मनुष्य उस जंगली अवस्था को न पहुँच जायँ कि जिधर को वे आजकल झूठी शिक्षा के कारण बड़ी तेजी से दौड़ रहे हैं।

विज्ञान और कला की मनुष्य को उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि खाने और कपड़े की; बल्कि सच पूछिए तो वे इनसे भी ज्यादा जरूरी हैं। किन्तु वे जरूरी इसलिए नहीं बन जाते कि हम लोग जिनको विज्ञान और कला मानते हैं उनको मानव-जीवन के लिए जरूरी बताते हैं; बल्कि इसलिए कि वे वास्तव में मनुष्य के लिए आवश्यक हैं। यदि मैं घास को मनुष्य का खाना मानूँ और उसे मनुष्य के खाने के लिए तैयार करूँ, तो इससे घास मनुष्य का भोज्य नहीं हो सकती। मैं यह नहीं कह सकता—'तुम घास क्यों नहीं खाते, वह तो तुम्हारा आवश्यक भोजन है?' भोजन तो निस्सन्देह आवश्यक है, पर मैं जो कुछ दे रहा हूँ वह शायद भोजन ही नहीं है।

हमारे विज्ञान और हमारी कला के विषय में भी ऐसी ही बात हुई। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि यदि हम किसी ग्रीक शब्द के पीछे 'लाजी'-शास्त्र शब्द लगादें और उसे शास्त्र या विज्ञान कहने लग जायँ तो वह अवश्य ही शास्त्र हो जायगा;

और अगर नग्न स्त्रियों के चित्र खींचने जैसी किसी अश्लीलता को एक महत्त्वपूर्ण ग्रीक नाम दे दें और उसे कला कहने लगें तो बस वह अश्लीलता भी कला बन जायगी।

किन्तु हम चाहे कुछ ही क्यों न कहें, कीड़े गिनने की, इस बात का विश्लेषण करने की कि आकाश-गंगा में क्या पदार्थ हैं, अप्सराओं तथा ऐतिहासिक पुरुषों और घटनाओं के चित्र खींचने तथा आख्यायिकायें और कवितायें लिखने की अपनी इन अनेक प्रवृत्तियों की हम अपने मुँह से चाहे कितनी ही तारीफ क्यों न करें और उन्हें कितने ही बड़े नाम से क्यों न पुकारें, मगर जबतक लोग अपनी मर्जी से उन्हें स्वीकार नहीं करते तबतक वे कला या विज्ञान जैसी कोई भी चीज हो नहीं सकतीं। और आजकल लोगों ने न इन्हें स्वीकार किया है और न इन्हें सन्मान दिया है।

यदि कुछ थोड़े ही लोगों को भोजन बनाने का अधिकार दिया जाय, और अन्य सब लोगों को बिलकुल मना कर दिया जाय, या इस काबिल भी न रहने दिया जाय कि वे भोजन बना सकें, तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि भोजन की उत्कृष्टता में खराबी हो जायगी। यदि रूस के किसानों को भोजन बनाने का ठेका दे दिया जाय तो सिवा काली रोटी, क्वास, आलू और प्याज के कि जो उन्हें प्रिय तथा अनुकूल हैं और कोई चीज न बनाई जायगी। यही अवस्था मनुष्य की उन उच्चातिउच्च प्रवृत्तियों की

होगी, जिन्हें हम विज्ञान और कला कहते हैं—यदि उनका ठेका किसी एक जाति-विशेष को दे दिया जाय। बस, अन्तर इतना ही है कि शारीरिक भोजन के सम्बन्ध में मूल प्रकृति से अधिक दूर नहीं जाया जा सकता। काली रोटी और प्याज़ यद्यपि अस्वादिष्ट हैं, मगर फिर भी खाये जा सकते हैं; किन्तु मानसिक भोजन में बहुत कुछ हेर-फेर हो सकता है। कुछ लोग दीर्घ-काल तक अनावश्यक या हानिकारक विषैला मानसिक भोजन कर सकते हैं। वे स्वयं अपने को धीरे-धीरे उसके ज़हरीले प्रभाव से मार सकते हैं और उसी तरह का मानसिक भोजन वे दूसरों को भी दे सकते हैं।

हम लोगों के साथ यही बात हुई; और वह इसलिए कि विज्ञान और कला आजकल किन्हीं विशिष्ट लोगों के हाथ में हैं। आज वह समस्त मानव-समाज की प्रवृत्ति नहीं है, जिसमें कोई भी अपवाद न हो और जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपनी उत्कृष्ट शक्तियों को इन विद्याओं की आराधना के लिए खास तौर पर अर्पित कर देता है। आज तो वह एक छोटे-से समूह की प्रवृत्ति रह गई है, जिसने उसे अपना पेशा और अपनी बपौती समझ रक्खा है और जो अपने को वैज्ञानिक और कला-प्रेमी कह कर पुकारता है। इसीलिए उन्होंने कला और विज्ञान का अर्थ ही बिलकुल बदल डाला है और अपने कार्य की महत्ता को भुला

दिया है और कुछ निकम्मे मुफ्तखोर आलसी जीवों का मनो-रञ्जन करने और बिना काम सुस्त पड़े रहने से जो जीवन नीरस और भार-स्वरूप मालूम होने लगता है उसका भार कम करने ही में वे अपनी सारी शक्ति खर्च कर रहे हैं।

मनुष्य का जबसे संसार में आविर्भाव हुआ है तबसे विज्ञान अपने स्पष्टतम और विशालतम अर्थ में सदा ही उसके पास रहा है। विज्ञान समस्त मानवीय ज्ञान का योग है और स्वरूप में सदा ही वह दुनिया में रहा है। उसके बिना तो जीवन की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती और उसपर आक्रमण करने या उसकी रक्षा करने की जरूरत नहीं है।

किन्तु मुख्य बात यह है कि इस ज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण है, लोहे की प्राप्ति से लेकर तारों की गति सम्बन्धी ज्ञान तक नाना प्रकार की इतनी बातों का इसमें समावेश हो जाता है, कि यदि मनुष्य के पास इस बात का निर्णय करने वाली कोई कसौटी न हुई कि कौन-सा ज्ञान अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण है और कौन-सा कम, तो ज्ञान की इन भूल-भुलैयों में मनुष्य के खोये जाने की पूरी सम्भावना है।

इसलिए मनुष्य की बड़ी से बड़ी बुद्धिमानी इसमें है कि वह एक ऐसी मार्ग-दर्शक कुँजी खोज निकाले, जिससे मानव-ज्ञान की ठीक-ठीक आयोजना की जा सके और यह मालूम होता

रहे कि कौन-सी बात मनुष्य के लिए अधिक उपयोगी है और कौन-सी कम। मनुष्य का यही ज्ञान, जो शेष सब प्रकार के ज्ञानों को संचालित करता है, विशिष्ट-रूप में विज्ञान के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा विज्ञान जबसे मनुष्य ने जंगली अवस्था के बाहर पैर रक्खा है तबसे बराबर मनुष्य के साथ रहा है। जबसे मनुष्य अस्तित्व में आया है तबसे प्रत्येक जाति के अन्दर ऐसे उपदेशक पैदा होते रहे हैं, जो इस विशिष्ट अर्थ में विज्ञान को बनाते रहे हैं—अर्थात् उस विज्ञान को, जो यह बताता है कि मनुष्य के लिए क्या जानना सबसे अधिक ज़रूरी है।

इस विज्ञान का सदा यह उद्देश्य रहा है कि वह यह पता लगाये कि मनुष्य का भवितव्य क्या है, अर्थात् यह मालूम करे कि व्यक्तिशः प्रत्येक मनुष्य का और सामूहिक रूप से समस्त मानव-समाज का वास्तविक कल्याण किस बात में है। इस विज्ञान के द्वारा यह मालूम होता रहा है कि दूसरे विज्ञानों और उनकी अन्तःस्फूर्ति का कितना महत्व है। वे ज्ञान और कला, जो मनुष्य की भवितव्यता से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान को सहयोग और सहायता देते हैं, लोगों की दृष्टि में ऊँचे और पवित्र माने जाते हैं।

कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा, सुक़रात, ईसा और मुहम्मद का ज्ञान इसी श्रेणी का था;

इस विज्ञान का समस्त ज्ञानों में प्रथम पद तो मिलता ही रहा है, साथ ही इसी ज्ञान के द्वारा अन्य सब विज्ञानों का मूल्य आँका जाता रहा है। इस ज्ञान को जो इतनी महत्ता मिली वह इसलिए नहीं—जैसा कि आजकल के विद्वान कहे जाने वाले लोग अपने मनमें समझते हैं—कि कुछ धोखेबाज़ पादरी, पुरोहित और इस ज्ञान के शिक्षकों ने इसके महत्व को बढ़ा दिया है; बल्कि इसलिए—जैसा कि कोई भी मनुष्य अपने आन्तरिक अनुभवों से जान सकता है—कि मनुष्य की भवितव्यता और मनुष्य के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान के बिना दूसरी चीजों के मूल्य का निर्णय नहीं हो सकता, और न मनुष्य के लिए किसी विद्या और कला का चुनाव ही किया जा सकता है, और इसलिए किसी विद्या का अध्ययन भी नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे विषय, जिनपर विज्ञान का प्रयोग किया जाय, असंख्य हैं। मैं यहाँ असंख्य शब्द को विशिष्ट अक्षरों में लिख रहा हूँ, क्योंकि वह अपने बिलकुल ठीक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

मनुष्य का उद्देश्य क्या है और उसका कल्याण किस बात में है ? इस ज्ञान के बिना अन्य समस्त विद्यायें और कलायें केवल निरर्थक हानिकारी मनोरंजन-मात्र रह जाती हैं, जैसा कि सचमुच आज हम लोगों में हो रहा है। मनुष्य-समाज को अस्तित्व में

आये बजाबहुत दिनहो गये हैं और ऐसा कोई भी समय न था वह मानव-उद्देश्य और कल्याण से सम्बन्धित ज्ञान के बिना रह हो। यह ठीक है कि सरसरी तौर पर देखने से ज़ाहिर मालूम यह होता है कि मानव-कल्याण सम्बन्धी ज्ञान बौद्धों, ब्राह्मणों, यहूदियों, ईसाईयों तथा 'कन्फ्यूशियस' और 'लेआटज़ी' के अनुयायियों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न है; किन्तु मनुष्य यदि ज़रा ग़ौर से देखे तो उसे पता चल जायगा कि मुख्य-मुख्य बातों के विषय में सबमें एकता है। जंगली अवस्था को पार कर चुकने के बाद मनुष्यों में हम इस ज्ञान का उदय होता हुआ देखते हैं; किन्तु आज बिल-कुल अचानक यह परिवर्तन देखने में आ रहा है कि आधुनिक युग के लोग इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि वह ज्ञान जो समस्त मानव-ज्ञान का पथ-प्रदर्शक था, प्रत्येक चीज़ की प्रगति में बाधक हो रहा है।

लोग मकान बनाते हैं। एक गृह-शिल्पी एक नक़्शा तैयार करता है; दूसरा गृह-शिल्पी दूसरा। नक़्शे एक दूसरे से कुछ भिन्न हैं; किन्तु वैसे हैं दोनों ठीक; और हरएक आदमी जानता है कि यदि उनमें से किसी के भी अनुसार काम किया जायगा तो मकान तैयार हो जायगा। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा और ईसा ऐसे ही गृह-शिल्पी हैं। किन्तु कुछ लोग आकर कहते हैं और विश्वास दिलाते हैं कि हम जो चीज़ चाहते हैं वह सभी तरह के नक़्शों

के अभाव में ही मिलेगी—बस, लोगों को किसी तरह मकान बनाने में लग जाना चाहिए। और इस "किसी तरह" को ही ये लोग खरा विज्ञान कहते हैं, जैसा कि पोप अपने को 'महापवित्र' की उपाधि से विभूषित करता था।

लोग प्रत्येक ज्ञान को, मनुष्य के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले अत्यन्त आवश्यक ज्ञान को, अस्वीकार करते हैं और ज्ञान के इस अस्वीकार को ही लोग विज्ञान कहते हैं। मनुष्य के प्रारंभ से लेकर अबतक प्रतिभाशाली लोग सदा पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की प्रेरणा से न केवल व्यक्तिगत प्रत्युत् मनुष्य-समाज के जीवनोद्देश्य और भावी कल्याण के सम्बन्ध में बहुत कुछ सोचा-विचारा है। वह शक्ति कि जिसने मुझे पैदा किया है, मुझसे और प्रत्येक मनुष्य से क्या चाहती है? और व्यक्ति-गत तथा सार्वजनिक कल्याण के लिए मेरे मन में जो आकांक्षा है, उसे सन्तुष्ट करने के लिए मुझे क्या-क्या करना चाहिए ?

उन्होंने अपने मन से यह प्रश्न किया है—मैं किसी अपरिमेय अनन्त चीज़ का एक अंग हूँ; तब मेरे ही जैसे अन्य अंगों तथा उस अनन्त अपरिमेय के साथ अर्थात् अन्य मनुष्यों और अखिल ब्रह्माण्ड के साथ मेरा किस प्रकार का सम्बन्ध रहे ?

और अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुसार

और पूर्ववर्ती लोग जो कुछ कह गये हैं उसको ध्यान में रख कर तथा ऐसे समकालीन लोगों की बातों का ख़याल करके कि जिन्होंने स्वयं इसी प्रकार के प्रश्नों पर विचार किया है, इन महान् उपदेशकों ने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं, जो बिलकुल सरल, स्पष्ट और सबकी समझ में आने लायक़ हैं और जिनपर सदा अमल किया जा सकता है।

इस प्रकार के लोग पहली, दूसरी, तीसरी, सभी तरह की श्रेणियों के थे। दुनिया ऐसे आदमियों से भरी हुई है। सभी मनुष्य अपने आपसे यह प्रश्न करते हैं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं को बुद्धि और अन्तरात्मा के अनुकूल कैसे बनाऊँ कि जो समस्त मनुष्य-समाज के कल्याण की याचना करती हैं? और सभी लोगों के इस प्रकार के उद्योग में से धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर नये-नये रूप बनते हैं, जो बुद्धि और अन्तरात्मा की इच्छाओं को अधिकाधिक सन्तुष्ट करते हैं। किन्तु अचानक ही एक नये वर्ग के लोगों का आविर्भाव होता है, जो कहते हैं कि यह सब वाहियात खुराफ़ात है, इसे छोड़ो, यह तो माने हुए सिद्धान्तों से निष्कर्ष निकालने की पद्धति है। हालां कि स्वीकृत सिद्धान्तों से निष्कर्ष निकालने की पद्धति (Deductive Method) और निरीक्षण द्वारा नियम निर्माण करने की पद्धति (Inductive Method) इन दोनों में वास्तव में अन्तर क्या है,

यह आज तक कोई भी समझ न सका।) धार्मिक तथा दार्शनिक युग की भी तो यही प्रवृत्ति थी!

आन्तरिक अनुभवों से जिस बात का ज्ञान होता है और मनुष्य अपने जीवन-धर्म के सम्बन्ध में जो एक-दूसरे से कहता तथा सृष्टि के आरम्भ से अबतक के महान् पुरुषों ने जो कुछ इस विषय में किया है, वह सब व्यर्थ और निकम्मा है।

इस नवीन मत के अनुसार यह कहा जाता है—'तुम एक जीव-सृष्टि के परमाणु हो और तुम्हारी विचार-शक्ति के सामने प्रश्न यह है कि परमाणु की हैसियत से तुम्हारा क्या कर्तव्य है और इस बात का निर्णय करने के लिए तुम्हें बाहरी दुनिया का निरीक्षण करना चाहिए।'

यह बात कि तुम एक ऐसे परमाणु हो जो सोचता है, बोलता है, समझता है और दुःख का अनुभव करता है, और कि इसीलिए तुम दूसरे ऐसे ही परमाणुओं से यह पूछकर कि क्या वे भी तुम्हारी ही तरह दुःख या सुख अनुभव करते हैं, तुम यह निश्चय कर सकते हो कि तुम्हारे निजी अनुभव कहाँ तक ठीक हैं; तुम अपने पूर्ववर्ती बोलने-चालनेवाले, विचार करने तथा सुख-दुःख अनुभव करनेवाले परमाणुओं के अनुभव से लाभ उठा सकते हो, पूर्ववर्ती परमाणुओं ने अपने अनुभवों में जो लिखा उससे लाखों अन्य परमाणुओं का भी अनुभव मिलता है और

वह तुम्हारे अपने अनुभव का भी समर्थन करता है; और कि तुम खुद एक जीवित-जागृत परमाण हो, जो सीधे, आन्तरिक अनुभव के द्वारा अपने व्यक्ति-गत प्रवृत्ति के औचित्य अथवा अनौचित्य का सदा विचार कर सकते हो—यह सब कुछ नहीं, यह झूठी और हानिकारक पद्धति है—यह हमें बताया जाता है।

सच्चा वैज्ञानिक ढंग यह है—यदि तुम जानना चाहते हो कि तुम्हारा व्यक्तिगत कर्तव्य क्या है, तुम्हारा भवितव्य और कल्याण कैसा है, और समस्त मानव-समाज तथा समस्त संसार की भावी स्थिति क्या है, तो सबसे पहले तो तुम्हें यह करना चाहिए कि तुम अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की आवाज को सुनना और उसपर ध्यान देना छोड़ दो; मानव-समाज के महान उपदेशकों ने अपनी अन्तरात्मा और बुद्धि के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसपर विश्वास करना छोड़ दो; इन बातों को तुम बिलकुल वाहियात समझो और आरम्भ से प्रारम्भ करो।

और आरम्भ से प्रारम्भ करने के लिए तुम्हें एक खुर्दबीन के द्वारा छोटे-छोटे कीड़ों के अणुओं की हरकतों को देखना चाहिए, या इससे भी सरल बात यह है कि निर्भ्रान्त होने का सार्टीफिकेट जिन लोगों के पास है वे जो कुछ भी इन बातों के विषय में कहें उसे ठीक मान लो। और इन कीड़ों के अणुओं

की हरकतों को देख कर, या दूसरों ने इस विषय में जो कुछ लिखा है उसे पढ़ कर, तुम्हें अपनी मानवी भावनाओं और कल्पनाओं की उनमें संस्थापना करके यह मालूम करना चाहिए कि उनकी क्या इच्छायें हैं, क्या भावनायें हैं, उनके विचार कैसे हैं, उनकी कल्पनायें और आदतें क्या हैं, और इन निरीक्षणों से (जिनके प्रत्येक शब्द में विचार या भाषा की कोई न कोई ग़लती रहती है) दृष्टान्त के अनुसार तुम्हें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि तुम्हारा और तुम्हारे जैसे अन्य परमाणुओं का भवितव्य क्या है।

तुम्हें अपने को समझने के लिए यह जरूरी है कि तुम न केवल कीड़ों का ही अध्ययन करो, जिन्हें कि तुम देख सकते हो; बल्कि न दिखाई देने वाले अणुओं का भी अध्ययन करो और एक जीव-सृष्टि में से दूसरी जीव-सृष्टि होने के विधान का अध्ययन करो, जिसे न तो तुमने, और न किसी दूसरे ने पहले कभी देखा है और जिसे निश्चय ही तुम कभी भी न देखोगे।

कला के सम्बन्ध में भी यही बात है। जहाँ कहीं सच्चे विज्ञान का अस्तित्व रहा है, वह कला के द्वारा प्रदर्शित हुआ है। सदा से ही मनुष्य अपनी समस्त प्रवृत्तियों और भिन्नतापूर्ण ज्ञान-समूह में से मुख्य ज्ञान को अर्थात् मनुष्य के उद्देश्य और कल्याण सम्बन्धी ज्ञान को सदा अलग समझता है। और

कला का विशिष्ट अर्थ यही रहा है कि वह इस कल्याणमय ज्ञान को प्रकाशित करे, उसे मूर्त्त-रूप प्रदान करे।

मानव-जीवन के आरम्भ-काल से ही सदा ऐसे मनुष्य होते रहे हैं, जो मानव-कल्याण और मानव-उद्देश्य सम्बन्धी ज्ञान के विषय में बहुत सजग और उत्सुक रहे हैं, जिन्होंने मूल उद्देश्यों से दूर ले जाने वाले भ्रम के साथ अपने संघर्ष की, संघर्ष में होने वाली यातनाओं को, धर्म की विजय के लिए हृदय में उठाने वाली आशाओं और अधर्म की विजय से पैदा होने वाली निराशा की, तथा भावी कल्याण के विश्वास से पैदा होने वाले आनन्द की गाथायें गाई हैं, कविताओं में अंकित की हैं, या दूसरे रूपों में चित्रित की हैं।

मनुष्य का जबसे प्रारम्भ हुआ है तबसे सच्ची कला का इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं रहा कि वह उस ज्ञान को प्रदर्शित करे, उसे पूरा करे, कि जो मानव-जीवन के उद्देश्य और कल्याण से सम्बन्ध रखता है और ऐसी कला की मनुष्यों ने हमेशा कद्र की है। प्रारम्भ से लेकर आजतक कला ने सदा ही जीवन-सम्बन्धी उपदेशों का प्रचार करने अर्थात् धर्म की बातों को फैलाने ही का काम किया है और इसी तरह की कला को लोगों ने पसन्द किया है।

मानव-जीवन के उद्देश्य और उसके कल्याण से सम्बन्ध

रखने वाली विद्या के स्थान पर जबसे समस्त विश्व की बातों को मालूम करने की लालसा ने विज्ञान का नाम धारण कर आधिपत्य जमाया है तभी से कला के उस रूप का लोप हो गया, जो कला का सच्चा स्वरूप था और जो मनुष्य-जीवन का आवश्यक अंग था।

जबतक चर्च मनुष्य के भावी कल्याण का उपदेश देता रहा और कला धर्म की सेवा करती रही, तबतक वह सच्ची कला रही; किन्तु जबसे कला ने धर्म का साथ छोड़ा और विज्ञान की सेविका बनी, तथा विज्ञान को जैसा अच्छा लगे वैसा करना शुरू किया, तब से कला अपना अर्थ खो बैठी। अब वह अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा के आधार पर अपना हक बताया करे और यह वाहियात दावा करती फिरे, कि 'कला कलाके लिए है' परन्तु वास्तव में अब उसमें कुछ तथ्य रहा नहीं—अब तो वह एक बाजारू चीज़ रह गई है, जिसका काम यह है कि वह लोगों को खुश करने के साधन जुटाया करे।

भूतकाल की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि हज़ारों वर्षों में जाकर और लाखों-अरबों मनुष्यों में से कन्फ्यूशियस, बुद्ध, स्पेलन, सुक़रात, सुलेमान, होमर, ईसा और दाऊद जैसे थोड़े से व्यक्ति पैदा हुए हैं। सच्चे कला और विज्ञान-प्रेमी दुनिया में बहुत-कम पैदा होते हैं, हालां कि उनका जन्म किसी

जाति-विशेष में नहीं वरन् समस्त मानव-समाज में से हुआ करता है; और मनुष्य जो इन लोगों का इतना सम्मान करते आये हैं, यह भी अकारण ही नहीं है। किन्तु आज कहा जाता है कि कला और विज्ञान के इन प्राचीन और महान् प्रतिनिधियों की अब हमें जरूरत नहीं है।

श्रम-विभाग की कृपा से कला और विज्ञान के प्रतिनिधि अब तो बड़ी आसानी से पैदा किये जा सकते हैं और इस साल के भीतर हम इतनी अधिक संख्या में महान् कला-प्रेमी और वैज्ञानिक पैदा कर लेंगे कि जितने समस्त मानव-मण्डल में सृष्टि के आदि से लेकर अबतक पैदा हुए। आजकल तो विद्वानों और कला-प्रेमियों का मानों कारखाना खुला हुआ है, जहाँ उन्नत साधनों द्वारा मनुष्य के लिए जितना आध्यात्मिक भोजन चाहिए वह सारा का सारा तैयार कर लिया जाता है। और आध्यात्मिक भोजन इतने बड़े परिमाण में तैयार कर लिया गया है कि प्रत्यक्ष प्राचीन धर्म-शिक्षकों की तो बात ही क्या, नवीन आचार्यों को भी कभी याद करने की जरूरत न होगी। उनकी प्रवृत्ति तो धार्मिक तथा दार्शनिक युग की थी, इसलिए उसको नष्ट करना होगा। सच्ची मानसिक प्रवृत्ति तो लगभग ५० वर्ष पहले आरम्भ हुई।

और इन ५० वर्षों के भीतर हमने इतने सारे महापुरुष बना

डाले कि अकेले एक ही जर्मन विद्यालय में वे इतने हैं कि जितने समस्त संसार में अबतक पैदा नहीं हुए। विद्यायें भी हमने अनेकों खोज निकाली हैं। बस ग्रीक शब्द के पीछे 'लांजी' और जोड़ दो और विषय को कुछ थोड़े से 'पैरों' में विभक्त करके लिख दो कि विज्ञान तैयार हो गया। इस प्रकार हमने इतनी विद्यायें बना डाली हैं कि एक आदमी उन सबको सीख नहीं सकता। यही नहीं, उन सबके नाम तक याद करना उसके लिए बहुत कठिन है—इन नामों को ही यदि लिखा जाय तो उनसे एक कोष बन जाय और अभी आये दिन नई विद्यायें बनती ही रहती हैं।

इस विषय में तो हमारी स्थिति उस फिनिश अध्यापक की सी है, जिसने फ्रान्सीसी जमींदारों के लड़कों को फ्रान्सीसी सिखाने के बजाय फ़िनिश भाषा पढ़ाई। उसने लिखा था—पढ़ाया तो खूब, किन्तु खराबी एक यही थी कि उसको छोड़कर और कोई उस भाषा को नहीं समझ सकता था। हमने सब चीजों का बहुत अच्छा अध्ययन किया है, किन्तु दुःख है कि हमारे सिवा और कोई उन बातों को समझता नहीं और बाकी सब लोग उन्हें व्यर्थ और वाहियात कहते हैं।

किन्तु इसका भी एक जवाब है। आज लोग वैज्ञानिक विज्ञान की उपयोगिता को समझते नहीं, क्योंकि अभी तक वे

धार्मिक युग के प्रभाव में हैं—वही वाहियात युग कि जिसमें समस्त यहूदी, ईसाई, भारतीय और ग्रीक लोग अपने-अपने महान् उपदेशकों द्वारा बताई हुई बातों को समझ लिया करते थे।

ख़ैर, कारण कुछ भी हो, बात यह है कि विज्ञान और कला का अस्तित्व मनुष्य-समाज में सदा रहा है और जब वे अपने सच्चे स्वरूप में मौजूद थे तब वे मनुष्यों के लिए आवश्यक थे और लोग उन्हें समझ भी लेते थे।

हम लोग किसी ऐसी चीज के पीछे पड़े हुए हैं, जिसे हम विज्ञान और कला कहते हैं; किन्तु स्थिति यह है कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उसकी न तो लोगों को जरूरत है और न वे उसे समझ ही सकते हैं। इसलिए हमें अपनी कृतियों को कला और विज्ञान के नाम से पुकारने का कोई हक़ नहीं है।

किन्तु मुझसे कहा जाता है—तुमतो कला और विज्ञान की एक और ही संकुचित-सी व्याख्या करते हो, जो विज्ञान को स्वीकृत नहीं हो सकती। किन्तु तुम्हारी इस व्याख्या के अनुसार भी यह उसके अन्तर्गत है और तुम्हारे इतना कहने-सुनने के बावजूद गैलीलियो, ब्रूनो, होमर, माइकेल, एन्जिलो, बीथोवन, वाग्नेर और अन्य इससे छोटी श्रेणी के विद्वानों और कला-कोविदों की कृतियाँ तो मौजूद हैं ही। इन लोगों ने अपना समस्त जीवन कला और विज्ञान की सेवा में अर्पित कर दिया।

प्रायः यह बात इसलिए कही जाती है कि पुराने विद्वानों की सेवा को आजकल के लोगों की प्रवृत्ति के साथ सम्बन्धित किया

जा सके—हालाँ कि वैसे इन पुराने विद्वानों को सच्चा वैज्ञानिक और कलाविज्ञ नहीं मानते हैं। और यह बात कहते समय ऐसा मालूम होता है कि वे उस श्रम-विभाग को भुलाने की कोशिश करते हैं कि जिसके कारण विज्ञान और कला को आजकल एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

पहली बात तो यह है कि प्राचीन और अर्वाचीन वैज्ञानिकों तथा कलाविज्ञों में एकात्म्य स्थापित करना सम्भव नहीं; क्योंकि इन दोनों में वैसा ही अन्तर है, जैसा कि प्राथमिक क्रिश्चियनों के पवित्र जीवन में और पोप लोगों के जीवन में असामञ्जस्य रहा है। गैलिलियो, शेक्सपीयर और बीथोवन जैसे लोगों की प्रवृत्ति में और टिन्डल, ह्यूगो और वाग्नेर जैसे लोगों की प्रवृत्ति में कोई समानता नहीं है। जिस प्रकार प्रारम्भ काल के क्रिश्चियन पादरियों ने पोप लोगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध मानने से इन्कार कर दिया था वैसेही प्राचीन वैज्ञानिक आधुनिक काल के वैज्ञानिकों से सम्बन्ध रखने से इन्कार कर देते।

दूसरे विज्ञान और कला जो अपनी महत्ता का बखान करते हैं उससे ही उनके काम को जाँचने के लिए एक कसौटी बन जाती है, जिससे हम आसानी से मालूम कर सकते हैं कि वे अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं या नहीं। इसलिए हम यों ही विना किसी प्रमाण के ही नहीं बल्कि उनकी ही बताई हुई कसौटी

पर कस कर यह कहते हैं कि वह वृत्ति जो अपने को विज्ञान और कला के नाम से पुकारती है वास्तव में इस नाम से पुकारी जाने की अधिकारिणी है कि नहीं ?

पुराने जमाने में मिश्र और यूनान देश के पुरोहित कुछ रहस्य-भरी बातें किया करते थे, जो उनके सिवा और किसी को नहीं मालूम होती थीं, और कहते थे कि इन रहस्यमयी क्रियाओं में कला और विज्ञान सम्मिलित हैं। वे यह भी कहते थे कि यह लोगों के बड़े लाभ की चीज़ है। मगर उनके ऐसा कहने से हम उस विज्ञान की वास्तविकता का निर्णय नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे खुद ही उसे अप्राकृतिक और दैवी विभूति बताते थे। किन्तु अब तो विज्ञान की एक स्पष्ट कसौटी बन गई है, जिसमें दैवी अप्राकृतिक तत्त्व के लिए कोई स्थान ही नहीं है। विज्ञान और कला यह कहते हैं कि मनुष्य-समाज अथवा समस्त मानव-मण्डल के कल्याण के लिए मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति का संचालन-भार उन्होंने अपने ऊपर लिया है। अतएव यह निश्चित हो जाता है कि हम उसी प्रवृत्ति को विज्ञान और कला कह सकते हैं कि जिसका उद्देश्य मानव-समाज का कल्याण करना हो। इसलिए ये समस्त विद्वान महानुभाव जो राजकीय दण्ड-विधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाते हैं, जो नई बन्दूकों तोपों तथा दूसरे शस्त्रों का आविष्कार करते हैं, या जो उन्मादक नाटक,

उपन्यास तथा कवितायें लिखते हैं, अपने को भले ही किसी नाम से पुकारें; किन्तु हम तो इन सब बातों को विज्ञान या कला की कृतियाँ नहीं कह सकते। क्योंकि इन बातों का लक्ष्य मानव-समाज का कल्याण नहीं है उलटे ये चीजें मनुष्यों को हानि पहुँचाती हैं और प्राय: इसी काम में लाई जाती हैं।

इसी प्रकार वे लोग जो अपना सारा जीवन सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा दिखाई देने वाले जन्तुओं का तथा दूरदर्शक यंत्रों द्वारा तारों की रचना आदि का अध्ययन करते हैं, और जो विद्वान अध्यवसाय-पूर्वक प्राचीन पदार्थों की शोध करके ऐतिहासिक उपन्यासों, चित्रों, गीतों तथा काव्यों की रचना करते हैं, वे अपने को कोई ही नाम क्यों न दें और कितने ही उत्साही क्यों न हों, अपनी ही की हुई विज्ञान की व्याख्या के अनुसार विज्ञान या कला-सेवी नहीं कहला सकते। क्योंकि एक तो उनकी प्रवृत्ति, जो यह कहती है कि विज्ञान विज्ञान के लिए और कला कला के लिए है, मनुष्य के कल्याण को लक्ष्य में नहीं रखती है और दूसरे हम इन प्रवृत्तियों द्वारा समाज अथवा समस्त मानव-मण्डल का कोई कल्याण होते हुए नहीं देखते।

उनकी प्रवृत्तियों से कभी-कभी कोई बात किन्हीं के लिए उपयोगी या रुचिकर निकल आती है तो इसीसे हम उनको विज्ञान या कला का सेवक नहीं कह सकते, क्योंकि खुद उनकी

ही व्याख्या के अनुसार उपयोगिता के लिए तो विज्ञान या कला में स्थान है ही नहीं। विज्ञान और कला की जो वैज्ञानिक व्याख्या की गई है वह तो ठीक है; किन्तु दुर्भाग्यवश आधुनिक विज्ञान और कला की प्रवृत्ति उनके अन्दर नहीं आती। कुछ लोग तो हानिकारक चीजें बनाते हैं, कुछ उपयोगिताहीन और कुछ केवल अमीरों के मनोविनोद की वस्तुयें निर्माण करते हैं। ये सभी लोग बहुत भले आदमी हो सकते हैं;किन्तु वे उस काम को पूरा नहीं करते, जिसका उन्होंने अपनी ही बनाई हुई व्याख्या के अनुसार जिम्मा ले रक्खा है। अतएव विज्ञान और कला का सेवक कहलाने का बस उतना ही अधिकार है,जितना कि अपना कर्तव्य पालन न करने वाले आधुनिक पुरोहितों को ईश्वरोय ज्ञान का अवतार और सत्य का प्रचारक कहलाना हो सकता है।

आधुनिक विज्ञान और कला के लेखकों ने अपना कर्तव्य पूरा क्यों नहीं किया और आगे क्यों नहीं कर सकते, यह समझना मुश्किल नहीं है। पूरा न करने का कारण यह है कि उन्होंने कर्तव्य को हक बना लिया है। वैज्ञानिक और कला-मय कृतियाँ सफल तभी होती हैं कि जब वे अपने अधिकारों को भूल कर केवल अपने कर्तव्यों को याद रखती हैं। मानव-समाज इस प्रवृत्ति की जो इतनी क़द्र करता है वह केवल इसलिए कि उसमें स्वार्थत्याग की भावना का प्राधान्य है।

यदि वास्तव में मनुष्य मानसिक श्रम के द्वारा सेवा करने का निश्चय करे, तो उसे इस सेवा के करने में दुःख उठाना ही पड़ेगा; क्योंकि केवल दुःखों की अनुभूति के द्वारा ही आत्मिक फल मिलता है। आत्म-त्याग और कष्ट तो कलाविज्ञ तथा विचारक के भाग्य में बदे हैं, क्योंकि मनुष्यमात्र का कल्याण करना उनका ध्येय है।

एक विचारक और कला-प्रिय मनुष्य ऊँचे और सुरक्षित स्थान पर जाकर नहीं बैठता, जैसा कि हम लोग प्रायः समझ बैठते हैं; वह तो लोगों के साथ रहकर उनके दुःखों में शरीक होता है, ता कि वह उन्हें शान्ति दे सके या मुक्ति का मार्ग बता सके। उसके कष्ट का एक कारण यह भी है कि वह हमेशा चिन्तातुर और उद्विग्न रहता है। वह सोचता है, अबतक तो उसे वह मार्ग खोज निकालना चाहिए था कि जिससे इन दुःखी प्राणियों को जो इतना कष्ट उठाना पड़ता है वह दूर होकर उन्हें सुख-शान्ति मिल सके; किन्तु उसने न तो अभी वह मार्ग ढूँढ पाया है और न अभी वह लोगों को कुछ बता ही सका है और कौन जाने कल क्या हो, कल तक वह जीवित भी रहेगा या नहीं। इस प्रकार की सात्विक और कर्तव्याभिभूत चिन्ता तो विचारक और उद्धारक का दाय भाग ही है। कला के सच्चे सेवक के भाग्य में भी व्यथा और स्वार्थ-त्याग ही लिखा रहता है।

वह आदमी कि जो किसी बड़े कालेज या ऐसे विश्वविद्यालय में पढ़कर निकला है कि जहाँ विद्वानों और कलाकारों को बनाया जाता है (हालाँ कि वस्तुतः वहाँ कला और विज्ञान की हत्या करने वाले ही पैदा किये जाते हैं) और जिसको डिप्लोमा के साथ ही कोई पदवी और अच्छा वेतन मिलता है, वह कभी विचारक या कलाकार नहीं बन सकता। सच्चा विचारक या कला-प्रेमी तो वह है जो जान-बूझ कर विचारक बनने नहीं जाता और उसका वश चले तो वह किसी से कुछ न कहे-सुने किन्तु अपनी आन्तरिक प्रेरणा और मनुष्यों के दुःखों के कारण उससे चुप रहा ही नहीं जाता और इसीलिए वह मनुष्य के कल्याण की बात सोचता है और सोच कर लोगों में उसका प्रचार करता है।

विचारक और कला-प्रेमी मोटे-ताजे और मदमस्त लोग तो कभी हो ही नहीं सकते। इसमें शक नहीं कि आत्मिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ और उनका प्रदर्शन मनुष्य के लिए आवश्यक है; किन्तु वह मनुष्य के जितने काम हैं उन सबमें अधिक कठिन काम है—वास्तव में तलवार की धार पर चलने के समान है।

उसका एक निश्चित गुण तो स्वार्थत्याग की भावना है, जो मनुष्य की अपनी आन्तरिक शक्ति को मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए लगा देने के लिए प्रेरित करती है और इसीमें मर-खप जाने के लिए उसे तैयार कर देती है। संसार के कीड़ों की गणना

करना, सूर्य के धब्बों को देखना, उपन्यास और गीत लिखना आदि काम तो बिना किसी अन्य की आन्तरिक वेदना के भी हो सकते हैं; किन्तु मनुष्य का कल्याण किसमें है, यह बात बिना स्वार्थत्याग के नहीं बताई जा सकती, क्योंकि मनुष्य का कल्याण तो स्वार्थ-त्याग और दूसरों की सेवा करने ही में है। इस तथ्य की बात को लोगों के दिलों में उपदेशों अथवा कला-मयी कृतियों द्वारा वही बिठा सकता है कि जो स्वयं खुदी को मिटाने में समर्थ हुआ है।

चर्च की पवित्रता उस समय तक बनी रही, जबतक उसके आचार्यों ने धैर्य-पूर्वक दुःखों को सहन किया; किन्तु ज्योंही वे खाने-पीने और मजे उड़ाने के फेर में पड़े, त्यों ही उनकी शिक्षण-शक्ति का खात्मा हो गया। लोग कहते हैं, 'पहले धर्माचार्य लोग सोने के होते थे और उनके कमण्डलु लकड़ी के, किन्तु अब कमण्डलु सोने के होते हैं और धर्माचार्य लकड़ी के।' ईसामसीह ने सूली पर जान दी, यह निरर्थक बात न थी। इसमें एक तथ्य है और आज भी उसी तथ्य के बल आत्म-त्याग और कष्ट-सहन की शक्ति संसार की समस्त चीज़ों पर विजय प्राप्त करती है।

आजकल के विज्ञान और कला को तो किसी बात की कमी नहीं है, फिर भी हरएक आदमी यही सोचता है कि इनके लिए और क्या-क्या सुविधायें दी जा सकती हैं—अर्थात् उनके

लिए मनुष्यों की सेवा कर सकना एकदम ही अशक्य बनाने का अनजान में आयोजन किया जाता है। सच्चे विज्ञान और सच्ची कला के दो निस्सन्दिग्ध लक्षण होते हैं—एक तो आन्तरिक और वह यह कि विज्ञान या कला का सेवक अपने काम को लोभ की दृष्टि से नहीं प्रत्युत् आत्म-त्याग के भाव से करता है; दूसरा लक्षण बाह्य होता है और वह यह कि उसकी बनाई हुई चीज़ें उन लोगों की समझ में आती हैं और उन्हें उपयोगी मालूम पड़ती हैं कि जिनके फ़ायदे के लिए वह काम कर रहा है।

मनुष्य जिसे अपना भवितव्य और कल्याण मानता है, उसकी शिक्षा देना विज्ञान का काम होगा और उस शिक्षा की अभिव्यक्ति रहेगी कला के हाथ में। सोलन और कन्फ्यूशियस, मूसा और ईसा के उपदेश ही सच्चे विज्ञान हैं, और एथेन्स के बने हुए सुन्दर मन्दिर, दाऊद के कीर्तन और मन्दिरों की पूजा कला की बातें हैं। किन्तु पदार्थों का चौथा परिमाण (Fourth Dimension of the matter) मालूम करना, या जिन तत्त्वों से पदार्थ बने हैं उनका कोष्ठक बनाना तथा इस प्रकार की बातें न कभी विज्ञान समझी गई हैं, और न आगे कभी समझी जा सकेंगी।

हमारे ज़माने में सच्चे विज्ञान की जगह तो धर्म-रूढ़ियों और-क़ायदे-क़ानूनों ने लेली है और कला का स्थान चर्च और

राजकीय शिष्टाचारों ने अपहरण कर रक्खा है, जिनमें न तो कोई विश्वास रखता है और न जिनपर कोई गम्भीरता-पूर्वक विचार करता है। हम आज जिसे विज्ञान और कला कहते हैं, वे तो वास्तव में कुछ आलसी दिमागों और निकम्मी भावनाओं की उपज हैं, जिनका उद्देश्य केवल यह है कि दूसरों के दिमागों और भावों पर भी वैसा ही असर डाला जाय - साधारण लोगों के लिए वे बिलकुल अर्थहीन और निकम्मी चीजें हैं, क्योंकि वे उनके कल्याण को लक्ष्य में रख कर नहीं बनाई गई हैं।

पूर्व-काल का जहाँतक इतिहास हमें मिलता है वहाँ तक तो ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रत्येक युग में कुछ ऐसे असत्य सिद्धांतों का दौरदौरा रहा है, जो अपने को विज्ञान जैसे महान नाम से पुकारते थे किन्तु जिन्होंने जीवन के वास्तविक अर्थ को कभी प्रस्फु-टित तो किया नहीं उलटे उसे लोगों की नजरों से छिपाया है। पुराने जमाने से लेकर अबतक यही स्थिति रही है—मिश्रियों में, हिन्दुओं में, चीनियों में, और कुछ हद तक यूनानियों में भी हम यह बात पाते हैं। किन्तु कैसा सौभाग्य है हम लोगों का, कि हम एक ऐसे विचित्र समय में रह रहे हैं कि जब वह मानसिक प्रवृत्ति जो अपने को विज्ञान के नाम से पुकारती है, उन पुरानी भूलों से रहित है; इतना ही नहीं हमें यह विश्वास दिलाया जाता है कि वह अभी उन्नति के पथपर अग्रसर होती है। किन्तु

इस विशेष सौभाग्य का कारण क्या यह नहीं है कि मनुष्य अपनी बुराइयों को आज नहीं देख सकता या देखना ही नहीं चाहता ? जब प्राचीनकालीन धर्मशास्त्रियों और मिश्र के रहस्यवादी पुरोहितों तथा अनेक अन्य पन्थों के विज्ञान में शब्दाडम्बर के सिवा कुछ नहीं रहा, तो हमीं इतने अधिक सौभाग्यशाली कैसे हो सकते हैं ?

प्राचीन और अर्वाचीन कालके लक्षण तो बिलकुल एकसे हैं। आज भी वही घमण्ड और अन्ध-विश्वास है कि केवल हमीं लोग सच्चे रास्ते पर हैं और कि सच्चे ज्ञान का प्रारम्भ हमने किया है, भविष्य के सम्बन्ध में वैसी ही आशायें भी हैं कि हम लोग शीघ्र ही कोई अत्यन्त आश्चर्यजनक आविष्कार करने जा रहे हैं और हमारी इस महान् भूल को सिद्ध करने वाली बातें भी पहले ही जैसी मौजूद हैं और वह यह कि हमारा वह सारा ज्ञान केवल हमीं तक सीमित होकर रह गया है, सर्व-साधारण लोग न तो उसे समझते हैं, न उनकी उसमें सहानुभूति है, वे न तो उसे स्वीकार करते हैं और न उन्हें उसकी ज़रूरत ही है। हमारी यह स्थिति बड़ी ही कठिन है, इसमें सन्देह नहीं पर; यह अच्छा है कि हम उसे उसके असली रूप में समझ लें।

समय आ गया कि हम होश में आयँ और ज़रा अपनी ओर देखें। सच पूछो तो हम लोग उन्हीं फैरिसी तथा धर्मान्ध अधि-कारियों की भांति हैं, जो मूसा की गद्दी पर बैठे हैं और स्वर्ग की

कुंजी अपने हाथ में रखते हुए भी न तो स्वयं स्वर्ग में प्रवेश करते हैं, न दूसरों को प्रवेश करने देते हैं।

आज हम लोग जो विज्ञान और कला के पंडे और पुरोहित बने बैठे हैं वास्तव में सबसे बड़े धोखेबाज़ हैं और हमें अपने इस प्रतिष्ठित पद पर बैठने का उससे भी कम अधिकार है, जितना कि महाचालाक और दुराचारी पुरोहित या पोप को इससे पहले कभी था।

इस प्रतिष्ठित पद पर आरूढ़ होने का हमारे पास कोई कारण नहीं है। हमने धोखे से इस पद को हथियाया। और आज धोखेबाज़ी से ही हम उस पर अधिकारूढ़ हैं। पुराने जमाने के पोप और पादरी लोग चाहे कितने ही अनाचारी और पतित क्यों न रहे हों, किन्तु फिर भी उन्हें अपने पद पर बैठने का अधिकार था, क्योंकि वे दिखावटी तौर पर ही सही, यह कहते तो थे कि वे लोगों को जीवन और मुक्ति की शिक्षा देते हैं। किन्तु हम लोग जिन्होंने उन्हें उखाड़ कर फेंक दिया और दुनिया को यह दिखलाया कि वे धोखेबाज़ हैं, आज खुद भी वैसे ही बन गये हैं। हमने शिक्षक का स्थान तो ग्रहण कर लिया, किन्तु उनको जीवन और मुक्ति की शिक्षा नहीं देते; इतना ही नहीं हम तो यह भी कहते हैं कि उन्हें यह सब सीखने की कोई जरूरत नहीं। हम लोगों का खून चूस कर पीते हैं और अपने बच्चों को

पढ़ाते हैं ग्रीक और लेटिन का व्याकरण, ताकि आगे चलकर वे भी हमारे ही जैसा निकम्मा और रक्त-शोषक जीवन बिताना सीखें।

हम कहते हैं कि संसार में जाति-भेद है और हम उसे दूर करेंगे। किन्तु इस बात के क्या अर्थ हैं कि कुछ लोग और उनके बाल-बच्चे तो काम करते हैं और दूसरे लोग तथा उनके बाल-बच्चे काम न करके मौज किया करते हैं ?

किसी ऐसे हिन्दू को जो हमारी भाषाओं से अनभिज्ञ हो बताओ और उसे कई पीढ़ियों का रूसी तथा यूरोपियन जीवन दिखाओ तो वह तुरन्त ही दो विभिन्न और स्पष्ट जातियों के अस्तित्व को देख लेगा—एक काम करने वाले लोगों की जाति और दूसरी काम न करनेवाले लोगों की जाति अपने देश की ही तरह यहाँ भी पायगा। जैसा उसके देश में होता है वैसेही यहाँ भी काम न करने का अधिकार एक विशिष्ट संस्कार द्वारा प्राप्त किया जाता है, जिसे हम लोग विज्ञान और कला या साधारणतः शिक्षा के नाम से पुकारते हैं।

यह उसी शिक्षा का और उसके द्वारा होने वाले बुद्धि-भ्रम का परिणाम है कि हमपर आज यह अजीब बेवकूफी सवार हुई है कि जिसके कारण हम उन बातों को भी नहीं देख पाते कि जो बिलकुल स्पष्ट और निस्सन्दिग्ध हैं। हम अपने भाइयों का

खून पी रहे हैं किन्तु फिर भी हम अपने को क्रिश्चियन, दयालु, शिक्षित और बिलकुल प्रामाणिक पा रहे हैं।

नोट

१. गैलीलियो—यह इटली देश का प्रसिद्ध खगोलवेत्ता हुआ है। टेलेस्कोप-दूरदर्शकयंत्र इसीने पहले-पहल बनाया, जिसके द्वारा खगोल-सम्बन्धी कई बातें मालूम हुईं पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, ऐसा प्रतिपादन करने के कारण ईसाई पादरियों ने उसे बहुत तंग किया था, क्योंकि यह बाइबल के सिद्धान्त के विरुद्ध था।

२. ब्रूनो—इटली का एक तत्त्ववेत्ता। यूरोप के पुनरुज्जीवन (Renaissance) युग का ज़बरदस्त दार्शनिक था। अपने सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्वक प्रतिपादन करने के कारण लोगों ने उसे ज़ाहिर-ज़हूर में जला कर मार डाला।

३. माइकेल एञ्जीलो—इटली का मशहूर शिल्पी और चित्रकार, जिसने रोम और फ्लारेन्स के मन्दिरों को सजाया था।

४. बीथोवन—जर्मनी में पैदा हुआ। यह एक ज़बरदस्त संगीताचार्य हुआ है। यूरोप में इसके गीत बहुत लोकप्रिय हैं।

५. वाग्नेर—यह भी एक मशहूर संगीतशास्त्री हुआ है।

६. टिण्डल—प्रकाश, स्वर, गर्मी, इन वैज्ञानिक विषयों पर उसने ग्रन्थ लिखे। चुम्बक के सम्बन्ध में भी उसकी शोध बहुमूल्य थी।

७. विक्टर ह्यूगो—यह फ्रान्स का महान् कवि और नाटक तथा उपन्यास-लेखक हुआ है, जिसका एकाध उपन्यास हिन्दी में भी अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ है।

मैंने समाज की इस कुव्यवस्था में अधिक भाग लिया है, अधिक लाभ उठाया है, और इसके लिए प्रचलित मत के लोगों ने मेरी अधिक प्रशंसा की है और इसीलिए मैं अपने को अपने अन्य अधिकांश आदमियों की अपेक्षा अधिक पतित और सद्मार्ग से वहका हुआ मानता हूँ।

अतः मैं यह मानता हूँ कि उक्त प्रश्न का जो उत्तर मैंने अपने लिए खोजा है वह उन सभी लोगों के लिए कारआमद होगा कि जो ईमानदारी के साथ अपने मन से यह प्रश्न करेंगे कि क्या करें ? पहले तो मैं इस प्रश्न का उत्तर देता हूँ और वह यह कि मुझे कहिए कि मैं न तो दूसरों का धोखा देता हूँ और न अपने को, और कि मुझे सत्य से डरना नहीं चाहिए—फिर उसका परिणाम चाहे कुछ ही क्यों न हो। दूसरों को धोखा देने के क्या अर्थ हैं, यह हम सब लोग जानते हैं; लेकिन फिर भी हम सुवह से लेकर शाम तक वे धोखेबाज़ी का व्यापार करते रहते हैं—'घर नहीं हैं' जब हम घर पर होते हैं; 'बहुत खुश हुआ' जब विलकुल ही खुशी नहीं है 'माननीय' जब दिल में मान का कोई भाव नहीं है; 'मेरे पास रुपया नहीं है' जब कि हमारे पास रुपया होता है। इसी तरह की अनेकों बातें हम रोज़मर्रा के व्यवहार में करते हैं।

दूसरों को धोखा देना खासकर एक विशेष प्रकार का झूठा व्यवहार करना हम बुरा समझते हैं; किन्तु अपने को धोखा देते

हुए हम नहीं डरते। पर सच्ची बात तो यह है कि दूसरे के साथ कैसा भी झूठ क्यों न बोला गया हो, परिणाम को देखते हुए वह उस झूठ के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं है कि जिससे हम अपनी अन्तरात्मा को झुठलाते हैं, बहकाते हैं, और जिसके अनुसार आज हम अपने जीवन को ढाल रहे हैं। बस, हमें इसी झूठ से, इसी आत्म-वञ्चनामय जीवन से बचना चाहिए, यदि हम 'क्या करें ?' प्रश्न का उत्तर देने के योग्य बनना चाहते हैं।

सच पूछो तो मैं इस प्रश्न का उत्तर दे ही कैसे सकता हूँ, जब कि मैं जो कुछ करता हूँ वह और मेरा सारा जीवन असत्य के आधार पर बना हुआ है और जब कि मैं बड़ी चतुरता के साथ अपने और दूसरों के सामने उसे सत्य के नाम से घोषित करता हूँ। झूठ न बोलने के मानी तब तो यह हुए कि सत्य से भय न किया जाय और विवेक तथा अन्तरात्मा के जो निष्कर्ष होते हैं उन्हें अपने से छिपाने के लिए न तो मैं स्वयं बहाने बनाऊँ और न इस सम्बन्ध में दूसरों के द्वारा निकाले हुए बहानों को स्वीकार करूँ। सारी परिस्थिति प्रतिकूल हो उठे, पास-पड़ोस के सब लोग विरुद्ध हो जायँ, तब भी भयभीत न होऊँ और विवेक और अन्तरात्मा के साथ, समस्त संसार द्वारा परित्यक्त तथा तिरस्कृत होने पर भी, अकेला डटा रहूँ; उस स्थिति को सोच कर विचलित न होऊँ कि जहाँ सत्य और अन्तरात्मा का अनुसरण करने

से मैं पहुँचूँगा, क्योंकि वह स्थिति चाहे कितनी ही भयानक क्यों न हों, असत्य और धोखे पर बनी हुई स्थिति से तो वह किसी भी हालत में बुरी नहीं हो सकती।

हम लोग जो मानसिक श्रम करने का अधिकार प्राप्त करते हैं उनके लिए झूठ से बचने के अर्थ यह हैं कि वे सत्य से भयभीत न हों। हमारे ऊपर शायद इतना अधिक ऋण है कि हम उस सबको कभी प्रदान न कर सकेंगे; किन्तु हम कितने ही ऋण-ग्रस्त क्यों न हों, हमें ऋण की सूची तो बनानी ही चाहिए; हम कितनी ही दूर बहक कर ग़लत रास्ते पर क्यों न चले गये हों, फिर भी इस प्रकार भटकते रहने से वापस आना ही अधिक अच्छा है।

अपने साथियों के साथ झूठ बोलना सदाही हानिकारी है। असत्य की अपेक्षा सत्य के द्वारा प्रत्येक व्यवहार ठीक तौर पर सम्पादित होता है और जल्दी भी होता है। दूसरों के साथ झूठ बोलने से मामला और भी झमेले में पड़ जाता है और फैसला रुक जाता है; किन्तु अपने को धोखा देने से, जो असत्य है उसे सत्य मान कर आत्म-वञ्चना करने से तो मनुष्य का जीवन ही एकदम नष्ट हो जाता है। यदि कोई मनुष्य ग़लत रास्ते को ठीक समझ लेता है और उसपर चलने लगता है तो वह हरएक क़दम पर अपने लक्ष्य से अधिकाधिक दूर होता जाता है। एक

आदमी जो बहुत देर तक ग़लत रास्ते पर चलता रहा है, खुद ही या दूसरों के बताने से यह मालूम कर सकता है कि उसका रास्ता ग़लत है; किन्तु यदि इस भय से कि अब तो वह बहुत दूर चला आया है, पीछे लौटना मुश्किल है, वह अपने मन को इस प्रकार आश्वासन देने की कोशिश करे कि सम्भव है इसी रास्ते पर चलते-चलते वह कहीं किसी तरह ठीक रास्ते पर आ लगे, तो यह निश्चित है कि उसे ठीक रास्ता कभी न मिलेगा। यदि कोई मनुष्य सत्य से डरता है और उसे देखकर भी मानने को तैयार नहीं होता बल्कि असत्य को सत्य मान लेता है, तब वह आदमी कभी न जान सकेगा कि उसे क्या करना चाहिए।

हम, केवल अमीर ही नहीं बल्कि शिक्षित और अधिकारारूढ़ लोग भी इतने बहक गये हैं कि होश में आने के लिए या तो हमें ज़बरदस्त इच्छाशक्ति की जरूरत है या फिर गहरी ठोकर खा कर ही हमारी आँखें खुल सकेंगी और तभी हम उस असत्य को देख सकेंगे कि जिसपर हमने अपने जीवन की नींव डाल रक्खी है।

ग़लत रास्ते पर जाने के कारण मुझे जो दुःख उठाने पड़े उन्हीं के कारण मैं अपने जीवन की असत्यता को देख सका और एक बार यह मालूम हो जाने पर कि मैं जिस रास्ते पर जा रहा हूँ वह ग़लत है, मैंने साहस के साथ पहले तो सिद्धान्त में

और फिर क्रियात्मक रूप से विवेक और अन्तरात्मा की प्रेरणाओं का अनुसरण करना शुरू किया। बिना इस बात का खयाल किये कि वे मुझे कहाँ किस जगह ले जा रहे हैं।

मेरे इस साहस का मुझे पुरस्कार मिला।

मेरे जीवन के चारों ओर जो गड़बड़, जो असम्बद्धतायें, जो गुत्थियाँ और अर्थ-हीनतायें थीं वे सब एकदम साफ़ हो गईं और इन परिस्थितियों के मध्य मेरा जीवन जो पहले बड़ा ही विचित्र और हेय-सा मालूम देता था बिलकुल सरल और स्वाभाविक बन गया। इस नवीन स्थिति में मेरी प्रवृत्ति भी निश्चित रूप धारण कर सकी और वह पहले से बिलकुल विभिन्न है। वह नई प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शान्त, प्रेमल और प्रसन्नतापूर्ण है। वही बात जो पहले मुझे भयभीत करती थी अब आकर्षित करती है।

इसलिए मैं समझता हूँ कि जो आदमी ईमान्दारी के साथ अपने से यह प्रश्न करता है कि मैं क्या करूँ और जो असत्य के द्वारा अपने को धोखा नहीं देता और निर्भीकता-पूर्वक अपने विवेक और अन्तरात्मा का अनुसरण करता है, बस उसे तो इस प्रश्न का उत्तर मिल गया।

यदि वह आत्म-वञ्चना छोड़ दे तब उसे स्वयं यह दीखने लगेगा कि उसे क्या करना चाहिए, कहाँ जाना चाहिए और

किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। यह उत्तर प्राप्त करने के मार्ग में केवल एक ही बाधा हो सकती है और वह अपने तथा अपनी स्थिति के विषय में अत्यधिक उच्च धारणा बना लेना है। मेरे मार्ग में यही बाधा थी। इसलिए 'हम क्या करें ?' प्रश्न का दूसरा उत्तर, जो पहले उत्तर के परिणाम-स्वरूप मुझे मिला, यह था कि मुझे पश्चात्ताप करना चाहिए अर्थात् मैंने अपने और कामके विषय में जो धारणा बना रक्खी थी उसे बिलकुल बदल देना चाहिए। अपने को और अपने कामों को उपयोगी और महत्वपूर्ण समझने के बजाय हमें यह मान लेना चाहिए कि हम बहुत ही क्षुद्र हैं और हमारे काम हानिकारक हैं, अपने को शिक्षित समझने के बजाय हमें अपनी अज्ञानता को ध्यान में लाना चाहिए; अपने को दयालु और सदाचारी मानने के बजाय हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम दुराचारी और क्रूर हैं; अपनी महत्ता पर गर्व करने के बजाय हमें अपनी क्षुद्रताओं पर दृष्टिपात करना चाहिए।

आत्मवञ्चना के मार्ग को छोड़ने के अलावा मुझे पश्चात्ताप करके अपनी महानता के विषय में जो गलत खयाल मेरे मन में समा गया था उसे भुला देना पड़ा। मैं उच्च और महान् हूँ यह धारणा कुछ इतनी गहरी मन में बैठ गई थी कि वह मेरे स्वभाव का एक अङ्ग बन गई थी और जबतक मैंने अपने को इस भ्रमा-

त्मक धारणा से मुक्त नहीं किया तबतक मैं उस असत्य का भयानक रूप भी ठीक तरह से नहीं देख सका कि जिसके नीचे मैं दबा हुआ था।

मेरा मार्ग उसी समय और केवल उसी समय साफ़ हुआ जब मैंने अपनी भूल पर पछता कर अपने को एक विचित्र और महान् आदमी मानना छोड़ कर अन्य सभी प्राणियों की तरह एक साधारण मनुष्य समझना शुरू किया।

अपनी भूल समझने से पहले मैं प्रश्न इस प्रकार किया करता था, एक ऐसे आदमी को कि जिसने मेरी तरह इतनी शिक्षा प्राप्त की है और इतने गुण सञ्चित किये हैं क्या करना चाहिए? मैं जो लोगों से लेता रहा हूँ उसका बदला मैं इस शिक्षा और इस गुणावलि के द्वारा कैसे चुकाऊँ?

यह प्रश्न ही ग़लत था, क्योंकि इसकी तह में एक भ्रमात्मक भावना काम कर रही थी। वह यह कि मैं अन्य लोगों की तरह साधारण आदमी नहीं हूँ बल्कि एक विशिष्ट पुरुष हूँ जिसे शिक्षा और गुणावलि के द्वारा लोगों की सेवा करना है कि जिसको मैंने ४० वर्ष के अध्यवसाय से प्राप्त किया है।

मैंने यह प्रश्न अपने से किया तो, पर वास्तव में उसका जवाब मैंने पहले ही से दे रक्खा था, क्योंकि मैंने अपने मन में यह निश्चित कर लिया था कि मैं लोगों की सेवा उसी ढङ्ग से

करूँगा कि जो मुझे रुचिकर है। मेरे प्रश्न का वास्तव में तथ्य तो यह निकला—मैं एक इतना अच्छा लेखक और इतना बहुत और गुणी आदमी अपने इन गुणोंको मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए किस प्रकार काम में लाऊँ ?

किन्तु प्रश्न किया इस तरह जाना चाहिए था,जैसा कि किसी यहूदी पुरोहित से किया जाता कि जिसने अपने मत का पूरा-पूरा अध्ययन कर लिया हो और बाइबल के सारे के सारे अक्षर गिन लिये हों। प्रश्न यों किया जाता—"मुझ जैसे आदमी को क्या करना चाहिए कि जिसने अपने जीवन का श्रेष्ठ भाग श्रम का अभ्यासी होने के बजाय अध्ययन करने में—फ्रेंच भाषा, पयानो, व्याकरण, भूगोलविद्या, कानून,काव्य, उपन्यास, कहानियाँ, दार्शनिक सिद्धांत पढ़ने-पढ़ाने में और फौजी क़वायद करने में ही गँवा दिया है ? मेरे जैसा आदमी कि जिसने जीवन का शेष भाग सुस्ती में खोकर आत्मा को पतित बनाया है अब क्या करे ? पिछली दुर्भाग्यमय घटनाओं के होते हुए भी अब मुझे क्या करना चाहिए कि जिससे मैं उन लोगों से उऋण हो सकूं कि जिन्होंने इतने समय तक मेरे भरण-पोषण का भार सहन किया और अबभी मेरा भरण-पोषण कर रहे हैं ?"

पश्चात्ताप के पश्चात् यदि मैं प्रश्न करता कि 'मेरे जैसा पतित मनुष्य अब क्या करे ?' तो इसका उत्तर सरल था। सबसे प्रथम तो मुझे ईमानदारी के साथ अपनी रोजी कमाने का उद्योग

करना चाहिए; अर्थात् मुझे दूसरों के आधार पर जीवन निर्वाह करना छोड़ देना चाहिए; इसके साथ ही मुझे यह उद्योग करना चाहिए कि दिल और दिमाग़ की तरह मैं अपने हाथ-पाँव से भी लोगों की सेवा करूँ, यहाँ तक कि आवश्यकतानुसार अपना सर्वस्व भी उनकी भेंट कर देने को तैयार रहूँ।

इसलिए मैं कहता हूँ कि मेरी श्रेणी के आदमियों के लिए यह जरूरी है कि अपने को दूसरों को व धोखा देना छोड़ने के अलावा पश्चात्ताप करके अपनी शिक्षा-दीक्षा और योग्यता का अभिमान छोड़ दें, अपने को उन्नत बनाकर और परोपकारशील मनुष्य समझ कर दूसरों को अपने गुणों का लाभ पहुँचाने की इच्छा रखने के बजाय यह मानें कि हम नितान्त पापी, पतित, और निकम्मे हैं और एक नये प्रकार के जीवन में प्रवृत्त हों—दूसरों का उपकार करने के लिए नहीं बल्कि अभीतक हम जो लोगों को हानि पहुँचाते और उनका अपमान करते रहे उसे भविष्य में न करने के लिए।

प्रायः सरल भले युवक, जो मेरी आलोचनाओं को पसन्द करते हैं, मुझसे पूछा करते हैं, तब मैं क्या करूँ? मेरे जैसे युवक को कि जिसने विश्वविद्यालय में पढ़कर शिक्षा प्राप्त करली है दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए क्या करना चाहिए?

ये युवक प्रश्न तो करते हैं, किन्तु मन ही मन उन्होंने यह

पहले ही से तय कर रक्खा है कि उन्होंने जो शिक्षा प्राप्त की है वह बड़े काम की चीज़ है और वे उसी के द्वारा लोगों की सेवा करना चाहते हैं ।

इसलिए वह एक बात रह जाती है, जिसे वे नहीं करते हैं—वे सच्चे जी से अपनी शिक्षा की जाँच नहीं कर पाते और न अपने से यह पूछते हैं कि यह शिक्षा अच्छी है या बुरी ।

यदि वे ऐसा करें तो वे अपनी शिक्षा को बुरी बताये बिना न रहें और नये सिरे से सीखना प्रारम्भ करदें, और आवश्यकता भी इसी बात की है । जबतक प्रश्न ही ग़लत रूप में किया जायगा उस समय तक उसका ठीक उत्तर देने में वे असमर्थ रहेंगे। प्रश्न इस प्रकार करना चाहिए—'दुर्भाग्य से मैंने अपनी सारी ज़िन्दगी शरीर और आत्मा को हानि पहुँचाने वाली बातों के सीखने में ही गँवादी और आज मैं बिलकुल निस्सहाय और निरुपयोगी बन गया हूँ । अब मैं अपनी भूल को कैसे सुधारूँ ? किस प्रकार लोगों की सेवा करना सीखूँ ?' किन्तु प्रश्न हमेशा इस प्रकार किया जाता है—'मैंने इतना सारा उपयोगी ज्ञान प्राप्त किया है इसको लेकर मैं किस प्रकार लोगों की सेवा करूँ ?'

इसीलिए मनुष्य जबतक अपने को धोखा देना छोड़ नहीं देता और पश्चात्ताप करने को तैयार नहीं होता तबतक 'मैं क्या करूँ ?' प्रश्न का उत्तर वह कभी दे नहीं सकता । और यह

पश्चात्ताप भयंकर नहीं है, ठीक जैसे कि सत्य भयंकर नहीं है; बल्कि सत्य की ही भांति सुफलप्रद होता है। हमें चाहिए कि हम पूर्ण सत्य को स्वीकार करें और पूर्ण पश्चात्ताप करें; तभी हम यह समझ सकेंगे कि मनुष्य के जीवन में अधिकार और विशिष्ट लाभ जैसी कोई चीज नहीं है; वहाँ तो कर्तव्य ही कर्तव्य है, और और मानवी कर्तव्यों की न कोई सीमा है और न मर्यादा। मनुष्य का सबसे पहला और निस्सन्दिग्ध कर्तव्य यह है कि अपनी तथा अन्य मनुष्यों की आजीविका उपार्जन करने के लिए प्रकृति के साथ आवश्यक और अनिवार्य संघर्ष में भाग लें।

मनुष्य को जब अपने इस कर्तव्य का भान हो जाता है तो उसे "क्या करें ?' प्रश्न का तीसरा जवाब मिलता है।

मैंने अपने को धोखा देना छोड़ दिया। अपनी शिक्षा और बुद्धि के सम्बन्ध में मैं जो भ्रमात्मक धारणा बना बैठा था उससे भी मुक्त होने की मैंने कोशिश की और पश्चात्ताप किया, किन्तु 'क्या करें ?' प्रश्न का निराकरण होने में एक नई उलझन पैदा हो गई।

दुनिया में इतने काम हैं कि मनुष्य को पता ही नहीं चलता कि वह कौनसा काम करे! किन्तु इस प्रश्न का उत्तर पूर्वजीवन की बुराइयों के लिए जो मैंने पश्चात्ताप किया उससे मिला।

प्रत्येक मनुष्य यही सोचता है—'मैं क्या करूँ ? ऐसा कौन

सा काम है, जिसे खास तौरपर मुझे करना चाहिए ?' मैंने भी कईबार अपने मन से यह प्रश्न किया, जबतक कि मैं अपनी योग्यता और अपने कार्य के विषय में उतनी धारणा बनाये रहा तबतक मैं यह समझ न सका कि मेरा प्रथम और निस्सन्दिग्ध कर्तव्य यह है कि मैं स्वयं मेहनत करके अपने लिए तथा दूसरों की सेवा के लिए खाना, कपड़ा, मकान आदि का प्रबन्ध करूँ; क्योंकि संसार के प्रारम्भ से यही मनुष्य का निस्सन्दिग्ध और अनिवार्य कर्तव्य रहा है।

यदि मनुष्य ने इस जीवन-संघर्ष में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है तो वह इसीमें अपनी समस्त शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा—अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और दूसरों को इस काम में सहायता देने से उसकी आध्यात्मिक क्षुधा की शान्ति होगी।

मनुष्य के और सब काम तभी उचित और न्याय्य माने जायँगे कि जब उसने अपने इस पहले कर्तव्य का पालन कर लिया हो। मनुष्य दूसरा चाहे कोई ही काम क्यों न करे, चाहे वह शासन-विभाग में काम करे, चाहे देश की रक्षा का काम करे, चाहे उपदेशक, शिक्षक, आविष्कारक, कवि या कलाविज्ञ का काम करे, किन्तु किसी भी बुद्धिमान आदमी का सबसे पहला और

नितान्त निस्सन्दिग्ध कर्त्तव्य यही है कि वह अपने तथा दूसरे लोगों की जीवन-रक्षा के लिए प्रकृति के साथ जो अनवरत युद्ध चल रहा है उसमें भाग ले।

यह कर्तव्य सदाही सर्वश्रेष्ठ माना जायगा क्यों कि मनुष्य के लिए जीवन ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीज है और इसलिए मनुष्यों को लिखाने-पढ़ाने और उनके जीवन को सुन्दर बनाने के लिए भी यह जरूरी है कि पहले उनकी जीवन-रक्षा के प्रश्न को हल किया जाय। और यदि हम जीवन-संघर्ष में भाग न लेकर अर्थात् स्वयं श्रम न करके दूसरों की मेहनत पर जीवित रहते हैं तो इससे दूसरे जीवन पर्याप्त सामग्री न मिलने के कारण नष्ट होते हैं। और यह बड़ी मूर्खतापूर्ण तथा एकदम असम्भव बात है कि इस प्रकार दूसरों का नाश करके हम उनकी सेवा का ढोंग करें।

प्रकृति के साथ संघर्ष करके आजीविका का उपार्जन करना मनुष्य का अवश्यम्भावी सर्वप्रथम कर्तव्य है, क्योंकि यह जीवन का नियम है, जिसका उल्लंघन करने से शारीरिक अथवा मानसिक ह्रास द्वारा मनुष्य को अनिवार्य रूप से दण्ड मिलता है। यदि मनुष्य कहीं एकान्त में रहता हो और फिर वह अपने को प्रकृति के संघर्ष से मुक्त करले तो शरीर नाश के रूप में उसे तुरन्त ही दण्ड मिलेगा।

किन्तु यदि मनुष्य दूसरे मनुष्यों को अपने लाभ के लिए काम करने के लिए बाध्य करके खुद अपने को प्रकृति-संघर्ष से मुक्त कर लेगा तो मानसिक जीवन के ह्रास के द्वारा उसे तुरन्त दण्ड मिलेगा, अर्थात् उसके जीवन में जो शरीर से भी अधिक महत्व-पूर्ण पदार्थ बुद्धि तथा नीति है उसका ह्रास हो जाता है।

पूर्व-परिस्थिति के कारण मेरी मनःस्थिति कुछ ऐसी विकृत हो गई थी और प्रकृति अथवा ईश्वर का बनाया हुआ यह निर्विवाद और प्रथम नियम आजकल इस दुनिया में कुछ इतना प्रच्छन्न है कि उसके अनुसार व्यवहार करना मुझे बड़ा विचित्र-सा लग रहा था। उसे करते हुए मैं डरता और लज्जित होता था, मानों इस अनन्त और निर्विवाद नियम का पालन करना—उसका भङ्ग करना नहीं—विचित्र, अस्वाभाविक और लज्जाजनक हो। पहलेपहल तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि इस नियम के अनुसार व्यवहार करने के लिए मुझे कुछ पूर्व-प्रबन्ध कर लेना चाहिए—समान-विचार के लोगों की सभा बनाई जाये, घर के लोगों की सम्मति लेली जाय, और शहर को छोड़कर गाँव में जाकर रहा जाय। मैं अपने हाथ से मेहनत करूँ, यह बात मुझे बड़ी अटपटी और विचित्र-सी मालूम होती थी—उसको आरम्भ करने में लज्जा मालूम होती और समझ में नहीं आता कि किस तरह शुरू करूँ। किन्तु इसके लिए यह समझने-भर की देर थी कि मैं जो कुछ करने जा रहा हूँ वह

कोई ऐसी नई और अजीब बात नहीं है कि जिसे मैंने खास अपने ही लिए खोल कर निकाला हो बल्कि आज मैं जिस भ्रम में पड़ा हुआ था उससे निकल कर फिरसे उस स्वाभाविक स्वास्थ्य-मय स्थिति की ओर अग्रसर हो रहा हूँ; अर्थात् अपने जीवन से असत्य को दूर कर रहा हूँ— बस,जहाँ इतना समझ में आया नहीं कि फिर सब मुश्किलें दूर हो गईं ।

मैंने समझा कि पहले से किसी प्रकार का कोई आयोजन करने की जरूरत नहीं है और न दूसरे लोगों की सलाह लेने की आवश्यकता है, क्योंकि मैं जहाँ कहीं जिस किसी भी स्थिति में रहूँ, मुझे ऐसे आदमी दिखाई देते थे कि जो मुझे और साथ ही साथ अपने को भी खिलाते, पिलाते, कपड़े पहनाते और गरमी पहुँचाते थे । और यह सब देखकर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कहीं भी किसी भी स्थिति में मैं रहूँ, यदि मेरे में शक्ति हो और समय हो तो मैं भी उन्हींकी तरह अपने लिए तथा उनके लिए यह काम कर सकता हूँ ।

मुझे जो काम विचित्र और ग़ैर-मामूली से दिखाई पड़ते थे, उनको करते हुए,मैंने देखा कि मुझे झूठी लज्जा नहीं आई; क्योंकि इससे पहले ही मैं मन ही मन इन कामों को स्वयं न करने के कारण कई बार सच्ची लज्जा का अनुभव कर चुका था ।

इस परिणाम पर पहुँचकर परिणाम के जो व्यावहारिक नि-

र्कर्ष थे उनका मैंने अपनी बुद्धि की प्रेरणा के अनुसार निर्भयता और साहस के साथ अनुसरण किया और इससे मुझे पूरा-पूरा लाभ हुआ।

इस व्यावहारिक परिणाम पर पहुँचकर मैंने साश्चर्य देखा कि जो समस्यायें मुझे पहले बहुत ही कठिन और गुम्फित दिखाई पड़ती थीं उनका हल कितना आसान और कितना सादा है। 'क्या करें ?' यह प्रश्न जो मेरे मन में उठता था, उसका बड़ा सीधा-सा जवाब मुझे मिला—पहले तो यह करो कि जो बातें तुम्हारे लिए जरूरी हैं उन्हें खुद करो, जो कुछ तुम कर सकते हो उसे दूसरों से न करा कर स्वयं करो। खुद ही अपना पानी भरो, खुद ही चूल्हा जलाओ, खाना पकाओ और खुद ही कपड़े धोओ।

'जो लोग यह सब काम अभी तक मेरे लिए किया करते थे क्या उन्हें यह आश्चर्यजनक न मालूम होगा ?' इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप मैंने देखा कि केवल एक सप्ताह तक ही यह बात लोगों को विचित्र मालूम हुई और एक सप्ताह के बाद तो मुझ अपनी पूर्व स्थिति पर जाना अधिक विचित्र जान पड़ने लगा।

'शारीरिक श्रम का प्रचार करने के लिए कहीं किसी गाँव में कोई सभा स्थापित करने की जरूरत है कि नहीं है ?' इस प्रश्न का उत्तर यह मिला कि इस बात की जरूरत नहीं है; यदि श्रम का उद्देश्य आगे चलकर आलसी रहने या दूसरों के श्रम का उप-

भोग करने का नहीं है—जैसा कि धन-प्राप्ति की इच्छा से श्रम करने वाले लोगों का हुआ करता है—केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही उसका लक्ष्य है, तो स्वभावतः ही इसके द्वारा लोगों को शहर छोड़ कर गाँव जाने की प्रेरणा होगी; क्योंकि इस प्रकार का श्रम वहीं अधिक आनन्दमय और फलदायक होता है। सभा स्थापित करने की भी कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि इस प्रकार का श्रम करने वाला स्वयं ही ऐसे दूसरे लोगों से मिलता-जुलता रहेगा।

मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि इस प्रकार सब काम हाथ से करने में मेरा सारा समय तो न चला जायगा? और इस प्रकार मैं इस मानसिक प्रवृत्ति से वञ्चित तो न हो जाऊँगा, जो मुझे पसन्द है और जिसकी उपयोगिता के विषय में अब भी कभी-कभी मेरे मन में विचार पैदा हो उठता है? इसका उत्तर जो मुझे मिला उसकी तो मैंने कभी आशा ही न की थी। शारीरिक श्रम की मात्रा के अनुसार मेरी मानसिक शक्ति बढ़ गई। मैं जितना अधिक शारीरिक श्रम करता था उतना ही मैं फिजूलियात के चंगुल से छुट कर मानसिक काम भी अधिक कर सकता था।

मैं आठ घंटे शारीरिक श्रम करने लगा। इससे पहले यह समय मैं मन बहलाने और आलस्य से लड़ने में व्यतीत करता था। फिर भी मेरे पास आठ घंटे बचते थे और उनमें भी मान-

सिक काम के लिए मुझे तो केवल ५ ही घंटे चाहिए थे; पर हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि चालीस वर्ष तक और कोई काम न करने की हालत में भी मेरे जैसे धनी लेखक ने कुल मिलाकर ४८०० छपे हुए पृष्ठ लिखे थे। अब यदि मैंने इन चालीस वर्षों तक दूसरे मजदूरों के साथ हर रोज आठ घंटे काम किया होता और शीत-ऋतु की संध्या और छुट्टी के दिनों को छोड़ कर रोज ५ घंटे पढ़ने में व्यतीत किये होते और केवल छुट्टी के दिनों में केवल दो पृष्ठ रोजाना के हिसाब से लिखे होते (हालांकि मैंने तो कई बार दिन भर में सोलह-सोलह पृष्ठ तक लिखे हैं) तब भी ४८०० पृष्ठ मैं चौदह वर्ष में लिख सकता था।

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ; यह इतना सीधासा हिसाब था कि जिसे एक ७ वर्ष का स्कूल का बालक भी लगा सकता था, पर मैं आज तक न कर सका था। दिन में २४ घन्टे होते हैं, जिनमें से ८ सोने के लिए रख लिए जायँ तो १६ शेष रहते हैं। अब यदि कोई मनुष्य ५ घन्टे रोजाना मानसिक श्रम करे तो वह बहुत सारा काम कर सकता है। तब इन बाकी के ११ घन्टों में हम क्या करते हैं ?

मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि शारीरिक श्रम करने से मानसिक श्रम न हो सकता हो, यह बात तो ठीक नहीं है; बल्कि शारीरिक श्रम से मानसिक प्रवृत्ति को स्फूर्ति मिलती है और काम भी अच्छा और अधिक होता है।

मेरे मन में इस बात की आशङ्का थी कि शारीरिक श्रम करने से मैं मनुष्योचित जीवन के निर्दोष आनन्दों से तो वञ्चित न हो जाऊँगा ? कला का स्वारस्य, विद्याओं का अध्ययन, समाज का संसर्ग और ऐसी ही अनेक बातें जो जीवन को सुखी और सरस बनाती हैं कहीं मुझसे दूर न हो जाय ? किन्तु मेरी यह आशङ्का नितान्त निर्मूल सिद्ध हुई। मेरा श्रम जितना ही गम्भीर और कठिन होता गया, जितना ही मैं कृषि जैसे कष्ट-साध्य काम में प्रवृत्त होता गया उतना ही जीवन का आनन्द बढ़ता गया, लोगों से मिलने-जुलने बातचीत करने, और ज्ञान प्राप्त करने के अवसर अधिक मिलते और मनुष्यों के साथ मेरा सम्पर्क अधिक घनिष्ट और प्रेमल हो गया जिससे मैं अपने जीवन में विशेष सुख का अनुभव करने लगा।

कुछ लोग तो जो शारीरिक श्रम करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं होते हैं, प्रायः यह कहा करते थे:—समुद्र में एक छोटी सी बूँद से भला क्या होगा ? दूसरों की मज़दूरी से हम तो इतना लाभ उठाते हैं उसको देखते ही हमारी यह मेहनत तो एक बूँद के बराबर भी नहीं है तब हमसे क्या लाभ हो सकता है ? इस प्रश्न का बड़ा ही आश्चर्यजनक उत्तर मुझे मिला।

मैंने देखा कि शारीरिक श्रम को जीवन का साधारण नियम बनाते ही आलसी दिनों की जो मेरी बहुत सी फ़िज़ूल और

खर्चीली आदतें और ज़रूरतें थीं वे एक दम कम हो गईं। इसके लिए मुझे कोई विशेष प्रयास भी न करना पड़ा। रात को दिन और दिन को रात बना डालने की मेरी आदत छूट गई। बिस्तरों, कपड़ों का बाहुल्य और केवल दिखावे के लिए जो अत्यधिक स्वच्छता का ढोंग रचाजाता है यह सब मेरे लिए असह्य हो उठे और श्रम करने से मेरे भोजन की मात्रा और उसके प्रकार में भी ज़बरदस्त परिवर्तन हो गया। पहले तो मैं अनेक मिठाइयाँ, तरह तरह के मसालेदार लज़ीज़ और अमीराना खाने पसन्द करता था उनके बजाय अब मैं गोभी, शोरबा, दलिया रोटी चाय आदि बिलकुल सादा खाना ज्यादा पसन्द करने लगा।

मैं जिन मज़दूरों के घनिष्ट सम्पर्क में आता था उनको तो मैं देखता ही था कि वह बहुत थोड़ी सी चीज़ों से सन्तुष्ट रहते थे पर धीरे धीरे खुद मेरी भी जरूरतें परिश्रमी जीवन व्यतीत करने के कारण कम हो गईं। ज्यों ज्यों मैं परिश्रमी जीवन का अभ्यासी होता गया त्यों-त्यों मेरे शारीरिक श्रम का बिन्दु अधिक बढ़ता हुआ दिखाई देने लगा और मेरी मेहनत अधिक फलदायी होती गई त्यों-त्यों दूसरों की मेहनत की ज़रूरत भी मुझे कम मालूम पड़ने लगी और बिना किसी विशेष प्रयास अथवा कष्ट के मेरा जीवन स्वभावतः ही इतना सादा हो गया कि

परिश्रम के नियम का पालन करने से पहले मैं उसकी कल्पना भी नहीं कर सका था।

यह स्पष्ट हो गया कि मेरी पहली अत्यन्त खर्चीली जरूरतें, जो केवल मनोरञ्जन या शान दिखाने के लिए थीं, आलसी जीवन का ही प्रत्यक्ष परिणाम थीं। जब मैं स्वयं शारीरिक परिश्रम करने लगा तो अभिमान और शान के लिए तो स्थान ही नहीं रहा, न मनोरंजन की जरूरत रही; क्यों कि काम करते हुए मेरा समय बड़े आनन्द से कटता था और थकावट महसूस होने पर चाय पीने, पुस्तक पढ़ने या कुटुम्बी जनों से वार्तालाप करने में जो विश्रान्ति मिलती थी वह नाटक देखने, ताश खेलने नाच पार्टी या बड़े-बड़े जलसों में सम्मिलित होने की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर प्रतीत होती थी।

मैं मेहनत करने का अभ्यासी नहीं हूँ, इसलिए दूसरों की सेवा करने के लिए जितने श्रम की जरूरत होती है उससे मेरे स्वास्थ्य को हानि तो नहीं पहुँचेगी? यह भी एक प्रश्न था, किन्तु मैंने देखा कि मैं जितना ही अधिक श्रम करता उतना ही अधिक स्वस्थ, प्रसन्न और दयामय मैं अपने को पाता—हालाँ कि बड़े-बड़े डाक्टरों ने मुझसे यह कहा था कि कठोर शारीरिक श्रम मेरे जैसी वार्धक्यावस्था में स्वास्थ्य के लिए बहुत अधिक हानिकारक सिद्ध होगा और इसीलिए उन्होंने जमनास्टिक घोड़े की

सवारी आदि कई प्रकार के व्यायाम मेरे लिए बताये थे।

मुझे तो यह निर्विवाद रूप से निश्चित और स्पष्ट मालूम होने लगा कि मानव-समाज की सेवा के नाम पर जो अनेक नई-नई बातें होरही हैं—जैसे समाचारपत्र, मासिक-पत्रिकायें, उपन्यास, नाटक, संगीत, नाच-पार्टी और जलसे आदि—ये सब मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को स्वाभाविक स्थिति से निकालकर दूर ले जाकर उसे सजीव बनाये रखने के कृत्रिम उद्योग हैं। ठीक इसी तरह स्वास्थ्य के नाम पर जो खान-पान, वायु और प्रकाश, गरमी, वस्त्र, दवा, मालिश, कसरत, बिजली आदि नाना-प्रकार के जो डाक्टरी प्रयोग हैं, ये सब केवल इसीलिए पैदा हुए हैं कि मनुष्य ने परिश्रम करने की अपनी कुदरती आदत छोड़ दी है और अब किसी न किसी तरह अपने जिस्म को कायम रखने के लिए ये सब तदबीरें निकाली हैं। आज की अपनी स्थिति कुछ ऐसी है कि जैसे किसी ऐसी कोठरी में जिसमें हवा और प्रकाश बिलकुल न जा सके, किसी पौदे को लगाकर फिर उसे सजीव बनाये रखने के लिए रासायनिक प्रयोगों द्वारा हवा और प्रकाश को पहुँचाने की कोशिश की जाय, जबकि जरूरत सिर्फ इस बात की है कि कमरे की खिड़कियाँ खोलकर स्वाभाविक रीति से हवा और प्रकाश को अन्दर जाने दिया जाय। पौदों के लिए जो नियम उपयोगी हैं वही मनुष्यों और पशुओं

के लिए भी; अर्थात्, खाना खाने से जो गरमी और शक्ति पैदा होती है उसे शारीरिक श्रम के द्वारा बाहर निकाला जाय और उसके लिए कृत्रिम उपायों का अवलम्बन न करके मेहनत-मजदूरी करनी चाहिए, जो मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म है।

आजकल हमारे समाज के आरोग्य-संरक्षण और वैद्यक के जो नियम बने हैं वे ऐसे हैं, जैसे कोई यन्त्र-शास्त्री अधिक तपे हुए इञ्जिन की भाफ निकलने के सब मार्गों को तो बन्द करदे और फिर उसको फटने से बचाने के लिए कोई तरकीब खोजने की कोशिश करता फिरे।

ये सब बातें जब मैं स्पष्ट रूप से समझ गया तब मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी शंकाओं, शोधों और दीर्घकालीन आत्म-निरीक्षण के पश्चात् मैं इस असाधारण सत्य पर पहुँचा कि भगवान ने मनुष्य को जो आँखें दी हैं वे देखने के लिए, कान सुनने के लिए, पैर चलने के लिए, हाथ काम करने के लिए और यदि मनुष्य अपने इन अवयवों का वह उपयोग न करेगा कि जिसके लिए वे बने हैं तो वह अवश्य ही नुकसान उठायगा।

हमारी श्रेणी के लोगों की स्थिति ठीक वैसी ही हो रही है, जैसी कि मेरे एक मित्र के घोड़ों की हुई थी। उसने अपने एक आदमी को, जिसे न तो घोड़ों से प्रेम था और न उनके विषय में कोई ज्ञान था, हुक्म दिया कि अस्तबल में जो अच्छे-अच्छे

बछड़े हैं उन्हें बेचने के लिए तैयार करो। आदमी ने अस्तबल में से अच्छे से अच्छे बछड़ों को चुनकर उन्हें खूब खिलाना-पिलाना शुरू किया और इस चिन्ता के कारण, कि कहीं घोड़ों को तकलीफ न हो, उसने उनसे किसी प्रकार की कोई मेहनत न ली। न तो उसने खुद सवारी ली, न किसी दूसरे के हाथों में उन्हें सौंपा, न कभी गाड़ी में जोतने के लिए उन्हें बाहर निकाला; परिणाम यह हुआ कि घोड़े बिलकुल निकम्मे हो गये।

हमारी भी ठीक यही हालत हुई है। अन्तर केवल इतना है कि घोड़ों को इस विषय में धोखा देना असम्भव है। आप यदि यह चाहते हैं कि वे बाहर न निकल सकें, तो उन्हें बाँधकर रखना होगा। हम भी तरह-तरह के लालचों के वशीभूत होकर अस्वाभाविक और हानिकारक स्थिति में रहना पसन्द करते हैं और वे लालच ही हमें बाँधकर रखने के लिए जंजीरों का काम देते हैं।

हमने अपने जीवन को मनुष्य के नैतिक और शारीरिक स्वभाव के विरुद्ध बना रक्खा है और फिर हम अपनी बुद्धि का सारा जोर लगाकर मनुष्यों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि यही जीवन सच्चा है। हम आज जिसे सभ्यता कहते हैं, वह केवल हमें धोखा देने का एक साधन है। विज्ञान और कला, जो जीवन के आनन्द में वृद्धि करने का दावा करते

हैं, वास्तव में मनुष्य के नैतिक जीवन को पंगु बनाने के साधन हैं और आरोग्यशास्त्र तथा वैद्यक मनुष्य को स्वाभाविक शारीरिक धर्म्म से वंचित रखने के ढंग हैं—इसके सिवा और कुछ नहीं।

किन्तु इन सब प्रवंचनाओं की भी एक सीमा होती है और हम उस सीमा पर पहुँच गये हैं। 'यदि सचमुच मानव-जीवन ऐसा ही है तब तो फिर जीते रहने की बिलकुल जरूरत नहीं'—यह कहती है शोपनहार और हर्टमैन की आधुनिक लोकप्रिय फिलासफी। 'यदि सचमुच मानव-जीवन ऐसा ही है तो इससे तो मरना अच्छा'—प्रतिष्ठित परिवारों में बढ़ती हुई आत्महत्याओं के द्वारा यह उद्घोषित हो रहा है। 'यदि जीवन ऐसा ही है तो आगामी पीढ़ी के हक में भी यही अच्छा है कि वह जन्म ही धारण न करे'—हमारा कृपालु डाक्टरी ज्ञान यह सलाह देता है और ऐसे साधनों का आविष्कार करता है, जिनसे स्त्रियों की जनन-शक्ति मारी जाय।

बाइबिल में मनुष्यों के लिए यह उपदेश दिया गया है:—'जब तेरे चेहरे पर पसीने की बूँदें झलकती हों तब तू रोटी खा।' और 'कष्ट उठाकर प्रजा उत्पन्न कर'।

बाण्डरफ़ नामक किसान ने एक लेख लिखकर इस महत्व-पूर्ण वाक्य की बुद्धिमत्ता पर बहुत प्रकाश डाला था। मेरे जीवन-भर में दो रूसी विचारकों ने मुझ पर जबरदस्त नैतिक प्रभाव

डाला है; उनके द्वारा मेरे विचारों में अभिवृद्धि हुई है और संसार के सम्बन्ध में जो मेरी कल्पना थी उसे उज्ज्वलता प्राप्त हुई है।

ये दोनों मनुष्य न तो कवि थे, न विद्वान, और न उपदेशक, ये दोनों विचक्षण पुरुष थे; दोनों किसान थे और दोनों ही अभी जीवित हैं। इनके नाम है सुरेफ़ और वाण्डरफ़।

कापिवेन्स्की के ज़िले में एक फटे हाल किसान घूमता-फिरता है। लड़ाई के ज़माने में वह रसद के दारोग़ा के साथ सामान ख़रीदने जाता था। इस अफ़सर से परिचित होने और उसके सुखमय जीवन को देखकर उसका दिमाग़ फिर गया और वह सोचने लगा कि वह भी अब एक भले आदमी की तरह बिना काम-काज किये मौज से जिन्दगी बसर कर सकता है। बस बादशाह को चाहिए कि उसकी आवश्यकताओं का प्रबन्ध करदे। यह किसान अब अपना नाम 'महामान्य राज कुमार बोल्सिन' बताता है और कहता है कि वह सब सैनिक दर्जों को पार कर चुका है। युद्ध के समय जो उसने सैनिक सेवायें की थीं उसके लिए बादशाह की ओर से उसे असंख्य धन, खिलअत, घोड़े, गाड़ी, नौकर, सब प्रकार के सामान आदि का प्रबन्ध किया जायगा। जब कोई पूछता है कि क्या तुम थोड़ा बहुत काम करना पसन्द करोगे? तो वह कहता है, 'नहीं कोई ज़रूरत नहीं, किसान लोग सब काम करलेंगे।' और

जब हम यह कहते हैं कि सम्भव है कि किसान भी काम न करना चाहे, तो वह उत्तर देता है कि 'किसानों को काम करने में अब असुविधा नहीं होगी, क्योंकि उनके लिए मशीनें बना दी गई हैं।' जब यह पूछते हैं कि तुम किस लिए जी रहे हो ? तो वह उत्तर देता है, 'समय बिताने के लिए।'

मैं इस आदमी को एक आईना समझता हूँ। उसमें मैं अपनी तथा अपने वर्ग की सूरतें देखता हूँ। हम लोगों के जीवन का उद्देश्य भी तो यही है कि सब दर्जों को पार करके असंख्य धन जोड़ा जाय और हमारा जीवन समय बिताने में व्यतीत हो, बाकी सारा काम तो किसान लोग करते रहेंगे और मशीनों से वे अपने काम में बहुत कुछ मदद ले सकेंगे। हमारे वर्ग के लोगों का बिलकुल यही मूर्खतापूर्ण ख़याल है। जब हम यह कहते हैं कि खास कर हम लोगों को क्या काम करना है, तो वास्तव में हम जिज्ञासु के रूप में कोई प्रश्न नहीं करते हैं बल्कि वोल्सन की भांति इस बात को प्रकट करते हैं कि हम कोई भी काम करना नहीं चाहते अन्तर केवल इतना है कि हम उस महामान्य राजकुमार वोल्सन की भांति स्पष्ट रूप से ईमानदारी के साथ सच्ची बात कह देने का साहस नहीं करते। जिसमें जरा भी सोचने समझने की शक्ति है वह तो 'क्या करें' पूछेगा ही नहीं क्योंकि वह स्वयं देखता है कि उसे जिन चीजों की जरूरत होती है वे

यातो दूसरे मनुष्यों के द्वारा बनाई जा चुकी हैं या अब बनाई जा रहीं हैं। दूसरे एक तन्दुरुस्त आदमी जब सोकर उठता है तो उसको स्वभावतः यह इच्छा होती है कि पैरों ही की तरह हाथ और दिमाग से भी वह काम ले। जो काम करना चाहता है उसके लिए काम की कमी नहीं है—बस, उसे अपने आपको मेहनत करने से रोकना न चाहिए। एक महिला ने अपने मेहमान को बाहर जाने के लिए द्वार खोलते देखकर कहा था, 'ठहरिए मैं नौकर को बुलाती हूँ वह द्वार खोल देगा।' इसी तरह के लोग जो मेहनत या किसी प्रकार के काम को अपने हाथ से करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं, ऐसा प्रश्न किया करते हैं, कि 'मुझे क्या करना चाहिए ?'

मुश्किल काम खोलने की नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के लिए अपनी तथा दूसरों की सेवा करने का बहुतेरा काम मौजूद है। सवाल तो यह है कि हम किस प्रकार अपनी उस जीवन-सम्बन्धी भ्रमात्मक और पापी धारणा को बदलें कि जो हमें यह सिखाती है कि केवल आनन्द और मौज के लिए ही हम खाते-पीते और सोते हैं और किस प्रकार श्रमी वर्ग की वह सरल और सत्य धारणा हम प्राप्त करें जो हमें यह बताती है कि शरीर एक मशीन के समान है। यदि हम उसे खिलायें-पिलायें पर उससे पूरा-पूरा काम न लें तो यह लज्जा-जनक, कठिन और

हानिकारक है; हम अपनी अन्तरात्मा में यह सरल सत्य स्थापित करें कि खाना और काम न करना यह बड़ी ही भयानक स्थिति है—आग लगाने जैसे आततायीपन के समान बुरी और भयंकर है।

बस यह भावना जाग्रत करने की देरी है और फिर हम अपने सामने काम ही काम देखेंगे और यह काम होगा भी हनि-कर और साथ ही हमारी समस्त शारीरिक तथा मानसिक वासनाओं को तृप्त कर सकेगा।

मैं तो अपने मन में यह सोचता हूँ—प्रत्येक आदमी का दिन खाने के हिसाब से चार भागों में या जैसा कि प्रचलित है चार पहरों में विभक्त हो सकता है। पहला भाग नाश्ते से पूर्व, दूसरा दो पहर के भोजन तक, तीसरा तीसरे पहर के टिफ़न तक, और चौथा रात्रि के भोजन तक। मनुष्य की वृत्ति जिन कामों की ओर जाया करती है वे भी चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहले तो शारीरिक श्रम,—अर्थात् हाथ पैर, पीठ और कंधों के द्वारा कसकर मेहनत करना, जिससे पसीना आना, दूसरे अंगुलियों और कलाइयों का काम—अर्थात् कला-कौशल सम्बन्धी काम, तीसरे बुद्धि और कल्पना का काम, और चौथे अन्य लोगों से बात-चीत करने का काम।

आदमी जिन चीजों का इस्तैमाल करता है वे भी चार

भागों में बाँटी जा सकती हैं। प्रथम प्रत्येक मनुष्य कठोर श्रम द्वारा उपार्जित पदार्थों का उपभोग करता है—जैसे रोटी, मकान, कुँआ, जल, आदि, द्वितीय हुनर-उद्योग द्वारा बने हुए पदार्थ-कपड़े, बर्तन, जूते, टोपी आदि; तृतीय, मानसिक प्रकृति की उपज—जैसे विद्या और कला, चतुर्थ मनुष्यों के संसर्ग में आना जैसे मित्रता बढ़ाना, परिचय प्राप्त करना, सभा आदि में जाना।

मैं सोचता हूँ कि काम का इस प्रकार आयोजन करना अति उत्तम होगा कि जिससे मनुष्य अपनी चारों तरह की शक्तियों को उपयोग में ला सके और चार प्रकार की चीज़ों का जो व्यवहार करता है वह भी स्वयं बनाकर बदले में दूसरों को दे सके। इस दृष्टि से समय-विभाग इस प्रकार किया जाय—प्रथम प्रहर कठोर शारीरिक श्रम; द्वितीय प्रहर मानसिक श्रम; तृतीय प्रहर औद्योगिक कार्य; चतुर्थ प्रहर—सन्त और सज्जन पुरुषों का समागम। अच्छा हो यदि मनुष्य इस प्रकार अपने समय को विभाजित करके मनुष्योपयोगी काम करे। किन्तु यदि यह असम्भव हो तो एक बात जरूरी है—मनुष्य परिश्रम के कर्तव्य को पहचाने और यह समझे कि दिन के प्रत्येक भाग का उचित उपयोग करना उसका धर्म है।

मैं सोचता हूँ ऐसा होने ही पर हमारे समान ये जो ग़लत श्रम-विभाग फैला हुआ है वह दूर हो सकेगा और एक उचित

और न्याय्य श्रम-विभाग का प्रचार करेगा, जिससे मानव-समाज के सुख में बाधा न पड़ कर उसके कल्याण का मार्ग खुलेगा।

मैं जीवन-भर मानसिक काम ही करता रहा हूँ। मैं सोचता था कि मेरा मुख्य काम लिखना है और बाक़ी सब ज़रूरी काम मैं दूसरों पर छोड़ देता था, या यों कहिए कि ज़बरदस्ती उनसे करवाता था। किन्तु यह प्रबन्ध जो देखने में मानसिक काम के लिए बड़ा सुविधाजनक मालूम पड़ता था, अन्यायपूर्ण और अनुचित तो था ही, पर मानसिक कार्य के लिए भी वह बहुत ही असुविधाजनक सिद्ध हुआ। मैं जीवन-भर लिखा ही किया; मैंने अपना खाना-पीना, सोना और मनोरंजन आदि सब काम इसी के काम की सुविधा के अनुकूल रक्खे, और इस लिखने के काम सिवा मैंने और कुछ किया भी नहीं।

किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि एक तो मैंने अपने निरीक्षण और ज्ञान-सञ्चय का क्षेत्र बहुत संकुचित बना लिया। प्रायः ऐसा होता था कि मुझे अध्ययन के लिए कोई विषय न मिलता था और जब मुझे मनुष्य-जीवन का वर्णन करने की ज़रूरत पड़ती (और मनुष्य-जीवन का प्रश्न प्रत्येक मानसिक प्रवृत्ति के सामने आया करता है) तब मुझे अपने अज्ञान का भास होता और मुझे दूसरे लोगों से उन चीज़ों के विषय में पूछना या सीखना पड़ता कि जिन्हें खुले मैदान में मेहनत-मज़-

अन्य विशिष्ट काम में संलग्न होने की आन्तरिक अनिवार्य प्रेरणा न होगी, या जब तक दूसरे आदमी भी उस काम के लिए उससे अनुरोध न करेंगे, तबतक वह अपने दैनिक श्रम के कार्य को छोड़ना पसन्द न करेगा। मनुष्य को अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही इतने प्रकार की जिस्मानी मेहनत करनी पड़ती है कि श्रम करना उसके लिए भार न होकर सरल और आनन्ददायक हो जाता है।

श्रम करना बुरा है, इस मिथ्या धारणा के कारण मनुष्य अपने को मेहनत-मजदूरी के काम से मुक्त कर लेता है। अर्थात, उन कामों को जबरदस्ती दूसरों से कराता है और फिर अपनी स्थिति की रक्षा के लिए अपने ऊपर खास काम करने की जिम्मे-वारी लेने का बहाना करता है और इसे श्रम-विभाग के नाम से पुकारता है।

श्रम-विभाजन की इस मिथ्या धारणा के हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हम सचमुच ही यह उचित और आवश्यक सम-झने लगे हैं कि मोची, यन्त्र-शिल्पी, लेखक और संगीतज्ञ आदि को मनुष्योचित जीवन-सम्बन्धी आवश्यक और अनिवार्य मेहनत से मुक्तकर दिया जाय। जहाँ दूसरों के श्रम को जबरदस्ती अप-हरण कर लेने की पद्धति न हो और जहाँ आलसी जीवन में आनन्द मानने की भयंकर भूल-भरी धारणा न हो, वहाँ कोई

भी मनुष्य अपनी पसन्द के विशिष्ट काम के खातिर अपने को उस मेहनत से मुक्त करने की कभी इच्छा ही न करेगा कि जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनिवार्य है; क्योंकि उसके रुचिकर कार्य से उसे कोई लाभ तो होता ही नहीं, वह तो मानों अपनी रुचि और अपने भाइयों की सेवा के लिए एक प्रकार का त्याग है।

गाँव में एक आदमी अपने पड़ोसियों के लिए जूते बनाने और गाँठने का काम स्वीकार करके अपने को उस आनन्दमयी स्फूर्ति से वंचित कर लेता है, जो खुली हवा में खेतों में काम करने से मनुष्य को प्राप्त होती है; किन्तु वह यह इसलिए करता है कि उसे जूते बनाने का शौक़ है और वह जानता है कि दूसरा कोई आदमी इस काम को इतनी अच्छी तरह न कर सकेगा और यदि वह काम कर देगा तो लोग उसके कृतज्ञ होंगे। किन्तु वह यह कभी न चाहेगा कि इस विशिष्ट कार्य को वजह से वह तरह-तरह के मनोरंजन करनेवाले अन्य श्रमों को छोड़ दे। संगीतज्ञ, यन्त्र-शिल्पी, लेखक और विद्वान के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही होगा।

आजकल जब कोई मालिक अपने मुहर्रिर से किसान का का काम करने को कहता है, या राज्य अपने किसी मन्त्री को देश-निकाला दे देता है, तो लोग कहने लगते हैं कि यह बड़ा

अन्याय हुआ। वास्तव में हमारी विकृत मनःस्थिति ही ऐसा कहलाती है। सच पूछो तो उन्होंने अपने भारी विशिष्ट काम को छोड़कर स्वाभाविक और रुचिकर काम करने के अवसर को प्राप्त किया है। आजकल की विकृत परिस्थिति के कारण जिसके विचार बिगड़ नहीं गये हैं, वह तो इस परिवर्तन को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करेगा।

जहाँ समाज अपनी प्राकृतिक अवस्था में है, वहाँ ऐसा ही होता है। मैं एक ऐसे समुदाय को जानता हूँ, जहाँ लोग स्वयं मेहनत करके अपनी रोजी कमाते हैं। इन लोगों में एक आदमी औरों की अपेक्षा अधिक पढ़ा-लिखा था इसलिए उससे पढ़कर उपदेश देने का अनुरोध किया गया, जिसे उसने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। वह दिन में तैयारी करता, ताकि शाम को वह ज्ञान की बातें अपने भाइयों को बता सके और यह समझकर उसे सन्तोष होता कि इस प्रकार वह दूसरों के लिए उपयोगी सिद्ध हो रहा है। किन्तु थोड़े दिनों में इस एकान्त मानसिक श्रम से वह थक गया और उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। उस समुदाय के लोगों को उसकी यह दशा देखकर उस पर दया आई और उन्होंने उससे फिर खेतों में चलकर काम करने का अनुरोध किया।

जो लोग श्रम को जीवन का सार और आनन्द मानते हैं,

उनके श्रम का आधार प्रकृति के साथ जो संघर्ष चलता है वही रहेगा—केवल कृषि-श्रम में ही नहीं बल्कि औद्योगिक, मानसिक और सामाजिक कामों में भी यही लक्ष्य उनके सामने रहेगा।

इन विविध प्रकार के कामों को छोड़ कर कोई मनुष्य दूसरे काम को तभी हाथ में लेगा, जब उस विशिष्ट काम की उसमें योग्यता होगी, उसे उसका शौक़ होगा. और वह यह समझेगा कि इस काम को अन्य लोगों की अपेक्षा वह अधिक अच्छी तरह कर सकेगा और तभी वह अपने आवश्यक कामों को छोड़ कर तथा उनके द्वारा होने वाले लाभों को त्याग कर दूसरों की इच्छाओं को पूर्ण करने में प्रवृत्त होगा।

जब मेहनत-मज़दूरी के विषय में ऐसा ख़याल लोगों में फैलेगा और इसी के अनुसार श्रम-विभाग किया जायगा, तभी वे दुःख दूर होंगे, जिन्हें हमने अपनी दूषित कल्पना के कारण श्रम के साथ सम्बन्धित कर रक्खा है। और उसी समय श्रम आनन्द का स्वरूप ग्रहण करेगा। क्योंकि तब मनुष्य या तो वही काम करेगा कि जो प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वभावतः उपयोगी, आवश्यक और मनोरञ्जक होते हैं, या फिर उसे इस बात का आत्म-सन्तोष होगा कि वह दूसरों की सेवा के निमित एक विशिष्ट और कठिन काम सम्पादित करके स्वार्थ त्याग कर रहा है।

यह कहा जाता है कि श्रम-विभाग बहुत लाभदायक है। पर यह लाभदायक है, किस के लिए ?

क्या यह अधिक लाभदायक है कि जल्दी से जल्दी जितने अधिक से अधिक जूते और कपड़े बनाये जा सकते हैं, वे बना डाले जायँ ? किन्तु ये जूते और कपड़े बनायगा कौन ?

कुछ लोग जन्म-भर पिन का ऊपरी भाग ही बनाया करते हैं। भला उनको इससे क्या लाभ होता है।

यदि हमारा यह उद्देश्य होता कि अधिक से अधिक संख्या में जूते और कपड़े तैयार किये जायँ, तब तो अवश्य ही इसे लाभदायक कहा जा सकता था; किन्तु प्रश्न तो यह है कि मनुष्यों को किस प्रकार सुखी बनाया जाय ?

वास्तव में आनन्द जीवन में है, और जीवन है श्रम में !

जो काम मनुष्य के लिए अरुचिकर, अनावश्यक और त्रास-दायक है वह लाभदायक कैसे सिद्ध हो सकता है ? यदि सब के कल्याण का विचार छोड़ कर कुछ थोड़े से मनुष्यों के लाभ का ध्यान हो, तब तो यह भी कह सकते हैं कि कुछ मनुष्य दूसरों को खा जायँ, यह बहुत अच्छा और लाभदायक है। जो बात मैं अपने लिए उपयोगी और लाभदायक समझता हूँ, वही और सब के लिए भी उपयोगी और लाभदायक है। शरीर और आत्मा, हृदय और बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली जो वासनायें मुझ में हैं,

उनकी तृप्ति और आत्म-कल्याण यही मेरे लिए लाभदायक हैं।

अब यदि मैं इस कल्याण को प्राप्त करना चाहता हूँ और उन आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता हूँ, तो मुझे उस पागलपन को अपने दिमाग़ से दूर कर देना चाहिए कि जिसमें क्रिपीवेन्सी के उस महामान्य पागल की भाँति मैं फँसा हुआ हूँ और जो यह कहता है कि भले आदमियों को हाथ से काम नहीं करना चाहिए; उन्हें अपने सारे काम दूसरों से कराने चाहिएँ।

यह तथ्य मालूम करने के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त जो श्रम करना पड़ता है, वह चार भागों में विभक्त किया जा सकता है और उन चारों में ही आनन्द है। वे भार-स्वरूप नही हैं; इतना ही नहीं यदि एक के बाद दूसरे प्रकार के श्रम को किया जाय तो उनसे शान्ति और विश्रान्ति भी मिलती है।

मजदूर का दिन जिस प्रकार उसके भोजन।विधान से चार भागों मे विभक्त है, वैसे ही मैंने भी अपने श्रम को चार भागों में विभक्त करके अपनी आवश्यकताओं की सामग्री को जुटाने का उद्योग प्रारम्भ किया।

"क्या करें ?" इस प्रश्न के जो उत्तर मुझे मिले संक्षेप में वे निम्न प्रकार हैं—

प्रथम—मैं अपने को धोखा न दूँ। बुद्धि जिस प्रकार के

मुझे अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहना था, वह तो मैं कह चुका। किन्तु जिन बातों से प्रत्येक मनुष्य का सम्बन्ध है ऐसी बातें कहने से मैं अपने को रोक नहीं सकता और मैंने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनकी भी जाँच कर लेने की मुझे जरूरत मालूम होती है।

मैं यह बता देना चाहता हूँ कि जिस निर्णय पर मैं पहुँचा हूँ उस निर्णय पर मेरे वर्ग के अनेक लोगों को पहुँचना होगा और यह भी कह देना जरूरी समझता हूँ कि यदि थोड़े से लोग भी उस निर्णय पर पहुँचेंगे तो उसका क्या फल होगा।

यदि हमारी श्रेणी और हमारी जाति के लोग इन बातों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे तो निश्चय ही उसका फल यह

होगा कि जो नवयुवक लोग निजी स्वार्थ और ऐसे सुखों के पीछे दौड़ रहे हैं कि जो उनको सर्वनाश की ओर लेजा रहे हैं और जिनकी वजह से दुनिया में लोगों का जीवन दिनों दिन अधिकाधिक कष्टमय होता जा रहा है, वे इस स्थिति को समझेंगे और समझकर भयभीत हो उठेंगे। न्याय-प्रिय लोग अपने जीवन पर यदि सूक्ष्मता पूर्वक विचार करेंगे तो अपने जीवन की क्रूरता और उसमें समाये हुए अन्याय को देख कर सहम जाँयगे और भीरु लोग और कुछ नहीं तो इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने में जो खतरा है उसको देखकर घबड़ायेंगे।

हमारे जीवन की दुर्दशा ! हम अमीर लोग अपने इस असत्य से भरे हुए जीवन का विज्ञान और कला के द्वारा कितना ही सुधार या समर्थन करने का उद्योग क्यों न करें, वह दिन ब दिन कमजोर ही होता जायगा, अस्वस्थ और अधिकाधिक कष्टमय होता ही जायगा। और प्रति वर्ष आत्म-हत्या और भ्रूण-हत्या के पाप में वृद्धि होती जायगी, प्रति वर्ष हमारे वर्ग की नई पीढ़ी दुर्बल बनती जायगी, और प्रति वर्ष हम अपने जीवन की दुर्दशा में अभिवृद्धि होती हुई देखेंगे।

यह निश्चित है कि इस मार्ग पर चलते रहने से कभी भी हमारा उद्धार नहीं हो सकता, फिर हम ऐशो आराम और मनोरंजन की चीजों में कितनी ही वृद्धि क्यों न करें, कितनी ही

औषधियों का कृत्रिम दाँत और कृत्रिम बालों आदि का आविष्कार क्यों न किया करें।

यह सत्य इतना व्यापक हो उठा है कि समाचारपत्रों में चूर्ण आदि के विज्ञापन 'गरीबों की नियामत' आदि शीर्षक देकर छापे जाते हैं, जिन में लिखा होता है कि अच्छा हाज्मा तो ग़रीब मेहनती लोगों ही का होता है, अमीर लोगों को तो हाज्मा दुरुस्त करने के लिए किसी न किसी औषधि की जरूरत पड़ती है और यह चूर्ण उन्हीं में से एक है। इस स्थिति को किसी भी प्रकार के मनोरंजन, ऐशो-आराम वा चूर्ण आदि से ठीक नहीं किया जा सकता। इसके लिए ज़रूरत इसी बात की है कि जीवन में एकदम परिवर्तन किया जाय।

हमारे जीवन के साथ हमारे अन्तरात्मा का विरोध। मानव जाति के विरुद्ध हमने जो बे वफाई की है उसको हम कितना ही न्याय-सिद्ध करने की कोशिश क्यों न करें, किन्तु हमारी ये सारी चेष्टायें प्रत्यक्ष प्रमाणों के सामने बिलकुल व्यर्थ हो जाती हैं। हम देखते हैं कि चारों ओर लोग भूख से, कार्याधिक्य से, मर रहे हैं, और इधर हम इन्हीं लोगों के भोजन को कपड़ों को और उनकी गाढ़ी कमाई को अपने मनोरंजन के लिए नष्ट कर रहे हैं, इसलिए हमारे वर्ग के व्यक्तियों का अन्तरात्मा—फिर वह कितना ही संकुचित क्यों न करदिया गया हो—हमें चैन से नहीं बैठने

देता और हमारे जीवन-सुखों को विषाक्त बना देता है, जिन्हें हमने अपने गरीब और दुःखी भाइयों से अन्याय-पूर्वक छीन लिया है। प्रत्येक न्याय-प्रिय मनुष्य इस बात को महसूस करता है; और आज-कल स्थिति ऐसी हो रही है कि विज्ञान और कला का वह सद्-अंश जो अभीतक अपने नाम को सार्थक बनाये हुए है, रह रह कर मनुष्य को उसकी क्रूरता, उसकी अन्याय-पूर्ण परिस्थिति की याद दिलाता रहता है।

पुराने बचाव के साधन, जो अटूट समझे जाते थे, नष्ट हो गये और आज कल विज्ञान की उन्नति विज्ञान के खातिर और 'कला केवल कला के लिए' कहकर जो हवाई दलीलें पेश की जाती हैं वे साधारण तर्क की धार और बुद्धि के प्रकाश के सामने ठहर नहीं सकतीं।

मनुष्य का अन्तरात्मा इस तरह की नई नई तरकीबों से धोखे में डाल कर शान्त नहीं किया जा सकता; वह तो शान्त तभी होगा, जब हम जीवन में एकदम वाञ्छनीय परिवर्तन कर देंगे और जीवन को ऐसा बना लेंगे कि फिर बचाव करने की ज़रूरत ही न रहेगी।

हमारा जीवन खतरे में! लोगों को सता-सता कर, उनपर अन्याय और अत्याचार कर-करके, हम उन्हें जो अधीर बनाये दे रहे हैं उसका कैसा खतरनाक नतीजा होने वाला है, इस

स्पष्ट बात को हम अपने से कितना ही छिपा कर क्यों न रक्खें, और धोखेबाज़ी से, ज़बरदस्ती से या खुशामद से, हम उस खतरे को दूर करने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, वह तो दिनों दिन पल-पल में बढ़ता ही जाता है। यह खतरा वैसे तो मुद्दतों से हमारे सामने था; किन्तु अब तो वह इतना समीप आ पहुँचा है कि हमारी समझ में ही नहीं आता कि हम क्या करें—हमारी स्थिति उस जहाज़ के समान है, जो गरजते हुए तूफानी समुद्र पर झोले खा रहा है और जिसे समुद्र गुस्से से भर कर हड़प किया ही चाहता है।

सर्वनाश और खून-ख़राबी की बीभत्सताओं से भरी हुई मज़दूरों की क्रान्ति तीस वर्ष से हमारे सिर पर मँडरा रही है और अभी तक हम तरह-तरह की चालाकियों ही से उसके बज्राघात से बचते रहे हैं।

यूरोप की ऐसी ही स्थिति है; और ऐसी ही नहीं बल्कि इस से भी अधिक भयंकर स्थिति रूस देश की है, क्योंकि यहाँ तो बचाव के भी कोई साधन नहीं हैं। जो वर्ग लोगों को सताते हैं, उनमें से ज़ार को छोड़ कर लोगों की नज़रों में और किसी को ऐसा करने का अधिकार नहीं है वे तो सिर्फ़ जबरदस्ती अपनी चालाकियों ही से अपनी स्थिति बनाये हुये हैं; किन्तु जनता में जो बुरे से बुरे आदमी हैं उनकी घृणा और जनता के अच्छे से

अच्छे प्रतिनिधियों की अवमानना हमारे प्रति पल-पल पर बढ़ती जाती है।

रूसी लोगों के अन्दर तीन-चार वर्षों से एक नये अर्थ-पूर्ण शब्द का प्रचार हो रहा है। यह शब्द पहले सुनने में न आया था; आज तो वह गली-गली सुनाई देता है। सर्व-साधारण अब हम लोगों को 'निकम्मा—मुफ्तखोर' कहते हैं।

दलित और दुखित लोगों की घृणा और अवमानना बढ़ रही है और अमीर लोगों को शारीरिक और नैतिक शक्ति का ह्रास होता जा रहा है। वह धोखेबाजी, जिससे अमीर लोग अभी तक अपना काम चला रहे थे, अब खुलती जाती है और धनिक-वर्ग के पास अब कोई ऐसी चीज़ नहीं है, जिससे वे इस बढ़ते हुए खतरे से अपनी रक्षा कर सकें। प्राचीन काल की परिपाटी फिर से स्थापित करना असम्भव है और गई हुई प्रतिष्ठा और साख को जमाना अब अशक्य है। जो लोग अपने जीवन में फेर-बदल करना नहीं चाहते उनके लिए केवल यही आश्वासन है कि उनका अपना जीवन तो जैसे-तैसे बीत ही जायगा, उसके बाद उनकी सन्तति का जो कुछ होना होगा वह होता रहेगा। अमीरों का अन्धा दल मनमें ऐसा सोच कर चुप हो जाता है, किन्तु ख़तरा तो बढ़ता ही जाता है और वह भयंकर आपत्ति दिन पर दिन नज़दीक आती जाती है।

तीन कारणों से अमीर लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि उन्हें अपने जीवन में परिवर्तन करने की ज़रूरत है। प्रथम—अपने निजी कल्याण तथा अपने परिवार की भलाई की इच्छा, जो इस परिस्थिति में असम्भव है जब तक कि धनी लोग अपने जीवन में परिवर्तन करने को तैयार नही होते। द्वितीय—अन्तरात्मा की आवाज का सन्तुष्ट करना, जो वर्तमान परिस्थिति के होते असम्भव है। तृतीय—प्रति दिन बढ़ता हुआ जिन्दगी का खतरा, जो किसी बाहरी तरकीब से रुक नहीं सकता।

इन तीनों कारणों से प्रभावित होकर अमीरों को अपने जीवन में परिवर्तन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। जीवन में परिवर्तन करने ही से कल्याण की साधना होगी, अन्तरात्मा की इच्छा की पूर्ति होगी और आने वाले खतरे का निराकरण भी हो सकेगा। और जीवन में परिवर्तन करने का एक ही तरीक़ा है, और वह यह कि हम अपने को धाखा देना छोड़ दें, पश्चात्ताप करें और परिश्रम को अभिशाप न समझ कर उसे जीवन का आनन्द-मय कार्य मानें।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है—मैं दस-पाँच घण्टे शारीरिक परिश्रम करूँ, इससे क्या लाभ हो सकता है, जबकि मेरे रुपये के बदले में सैकड़ों किसान खुशी-खुशी उस काम को करने के लिए तैयार हो जायँगे ?

इससे पहला लाभ तो यह होगा कि खुद मेहनत करने से तुम अधिक सजीव, स्वस्थ, सुदृढ़ और सदय बन जाओगे। दूसरा लाभ यह होगा कि यदि तुम में अन्तरात्मा का कुछ अंश शेष है, जो दूसरे लोगों को काम करते हुए देख कर तुम्हें कोंचा करता है, तो उसका यह कोंचना बन्द हो जायगा। तुम अपनी अन्तरात्मा को प्रति दिन अधिक सन्तुष्ट कर रहे हो; इस भावना से तुम्हें आनन्द मिलेगा। और आज का अपना जो अत्यन्त खराब जीवन है, जिसमें रह कर दूसरों का कल्याण करना एक-दम अशक्य है, उससे तुम मुक्त हो जाओगे और दूसरों का कल्याण करने वाला स्वतंत्र और पवित्र जीवन व्यतीत करने के विचार से तुम्हारे मन में आनन्द का अविर्भाव होगा। अभी तक नैतिक सृष्टि का जो मार्ग तुम्हारी दृष्टि से ओझल था वह अपने पूर्ण उन्मुक्त रूप में तुम्हारी नज़रों के सामने आ जायगा।

तीसरा लाभ यह होगा कि अपने बुरे कर्मों के द्वारा जागृत हुई प्रतिहिंसा के सतत भय से स्वयं मुक्त हो कर तुम यह अनुभव करोगे कि दूसरों को भी उस प्रतिहिंसा के फल से बचा रहे हो और खास कर उन बेचारे दलित लोगों की, घृणा और क्रोध की क्रूर जलन से, रक्षा कर रहे हो।

किन्तु यह अकसर कहा जाता है कि यदि हमारी श्रेणी के

लोग कि जिनके सामने अनेक गम्भीर दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, कला-मय, धार्मिक और सामाजिक प्रश्न हल करने के लिए सदा बने रहते हैं और जो राज्यों के मन्त्री हैं, अमात्य हैं, जो अध्यापक हैं, आचार्य हैं कला कार और संगीतज्ञ हैं, और जिनका मिनट-मिनट लोगों की दृष्टि में बहुमूल्य है, यदि ऐसे लोग अपने बूट साफ करने, कपड़े धोने, जमीन जोतने-बोने और पशु-पक्षियों को दाना-घास खिलाने के काम किया करें, कि जिन्हें हमारे नौकरों-चाकरों के अलावा ऐसे सैकड़ों लोग कि जो हमारे समय को बहुमूल्य समझते हैं स्वयं करने को तैयार होंगे, तब तो सचमुच यह स्थिति बड़ी ही हास्यजनक होगी।

किन्तु तब हम स्वयं ही अपने कपड़े क्यों पहनते हैं ? खुद ही क्यों नहाते और क्यों अपने हाथ से बालों में कंघा करते हैं ? हम क्यों अपने पैरों से चलते हैं, महिलाओं और महमानों के बैठने के लिए अपने हाथ से उठा-उठा कर कुर्सियाँ देते हैं, द्वार खोलते और बन्द करते हैं, लोगों को गाड़ी में बैठते समय सहारा देते हैं और इसी प्रकार के सैकड़ों काम करते हैं कि जिन्हें पहले हमारे दास-दासी हमारे लिए कर दिया करते थे ?

क्योंकि हम समझते हैं कि ये काम ऐसे हैं कि जिन्हें हम स्वयं कर सकते हैं और जो मानवी गौरव अर्थात् मानवी कर्तव्य के विरुद्ध नहीं हैं। शरीरिक श्रम के विषय में भी यही बात है।

मनुष्य का गौरव—उसका पवित्र कर्तव्य इसी में है कि वह अपने हाथ-पैरों से वह काम ले कि जिसके लिये वे उसे दिए गये हैं; वह अपने खाये हुए भोजन को ऐसे काम में खर्च करे कि जिससे भोजन पैदा होता है, उन्हें निकम्मा न रहने दे। भगवान ने मनुष्य को हाथ केवल इसलिए हर्गिज नहीं दिए हैं कि वह सुथरा रख कर अपने मुँह को भोजन और सिगरेटों से भरता रहे।

शारीरिक श्रम का प्रत्येक समाज और प्रत्येक मनुष्य के लिए यही अर्थ होता है। किन्तु हमारे समाज के लोगों ने इस प्राकृतिक नियम की जब से अवहेलना की है तब से सभी मनुष्यों की दुर्दशा का प्रारम्भ हुआ है और इस लिए हम शिक्षित और धनिक-वर्ग के लिए शारीरिक श्रम का एक और भी अर्थ है; और वह यह कि इस प्रकार हम स्वयं श्रम करके दूसरे लोगों के सामने उदाहरण रख कर श्रम धर्म का ज़ोरों से प्रचार करते हैं और मानव-समाज के ऊपर जो भयंकर आपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं उन्हें दूर हटाते हैं।

यह कहना कि 'शिक्षित मनुष्य का शारीरिक श्रम करना व्यर्थ-सा है' यह कहने के समान है कि 'मन्दिर बनाते समय एक ईंट को दूसरी ईंट के ऊपर ठीक तरह से रखने से क्या लाभ ?' प्रत्येक महत्व-पूर्ण काम शान्त सरल और निरभिमान वातावरण

में ही हुआ करता है। मनुष्य खेत जोतने का, गाय-बैल चराने का, या सोचने का काम बहुत भारी रोशनी और आतिश-बाजी में, तोपों की गड़गड़ाहट में या फ़ौजी वर्दी से सज्जित होने की हालत में नहीं कर सकता।

दीपों की जगमगाहट, तोपों की गड़गड़ाहट, सङ्गीत, वर्दियाँ सफाई और चमक-दमक ये चीजें प्रायः हम किसी बड़े काम के लिए जरूरी समझते हैं, किन्तु वास्तव में बात तो यह है कि जहाँ इन बातों का समावेश होता है वहाँ महत्व का अभाव होता है। महान् और सच्चे कार्य सदा ही सरल और विनम्र होते हैं। हमें जो बड़े से बड़ा काम करना है, वह भी वास्तव में ऐसा ही है। हमारे जीवन में जो भयङ्कर असङ्गतपन भरा हुआ है उसको दूर करना ही वह महान् काम है, जो हमें इस समय करना है। जिन कार्यों से यह असङ्गतपन दूर हो सकेगा वे विनम्र अलक्ष्य और देखने में उपहास्य मालूम पड़ते हैं—जैसे शारीरिक श्रम द्वारा अपना काम करना और दूसरों को भी सहायता पहुँचाना; पर हम अमीर लोगों को यही करना होगा, यदि हम अपने जीवन की दुर्दशा और उसमें समाये हुए अन्याय को तथा उसके कारण भविष्य में आनेवाली आपत्ति को समझते हैं।

यदि मैं या दो-चार-दस-पाँच आदमी शारीरिक श्रम की अवहेलना न करके उसे अपने सन्तोष, सुख और अन्तरात्मा

की शान्ति तथा अपनी रक्षा के लिए जरूरी समझने लगें तो इससे भला क्या होगा ? इससे यह होगा कि एक-दो या दस-पाँच आदमी एक दूसरे के काम में बिना बाधा डाले और सरकारी अथवा क्रान्ति-जनित बल-प्रयोग के बिना ही उस प्रश्न को हल कर डालेंगे कि जो इस समय समस्त संसार के सामने है और जिसको हल करना बड़ा मुश्किल हो रहा है। इस प्रश्न को यह लोग हल भी इस प्रकार करेंगे कि जिससे उनका जीवन सरस और सुन्दर हो उठेगा, उनके अन्तरात्मा को शान्ति मिलेगी और जो खतरा इस समय उनके सामने है वह दूर हो जायगा।

दूसरा फल यह होगा। दूसरे लोग भी देखेंगे कि जिस सुख और कल्याण को वे सब जगह खोजते फिरते थे वह बिलकुल उनके निकट ही है और सांसारिक परिस्थिति और अन्तरात्मा के बीच जो एक अनिवार्य विरोध-सा दीख पड़ता था वह बडी ही सरलता और सुन्दरता के साथ दूर हो जाता है। और वे यह भी समझ जायँगे कि अपने चारों ओर जो लोग रहते हैं उनसे डरने के बजाय हमें उनसे मिलना-जुलना और उन्हें प्यार करना चाहिए।

ये आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ जो जाहिरा हल न होनेवाली मालूम होती हैं, उस सन्दुकची की तरह हैं, जो बिना किसी विशेष उद्योग के स्वतः खुल जाती हो। किन्तु वह

उस समय तक न खुलेगी, जबतक वे सीधी से सीधी और आवश्यक बात न करेंगे अर्थात् जबतक उसे खोलेंगे नहीं। यह जाहिराला-हल सवाल वही पुराना, दूसरों की मेहनत को छीन लेने का सवाल है। इस सवाल ने आजकल हमारे जमाने में सम्पत्ति का रूप धारण किया है।

अगले जमाने में दूसरे लोगों की मेहनत जबरदस्ती दास-प्रथा के द्वारा छीन ली जाती थी। आजकल हमारे जमाने में यह काम सम्पत्ति के द्वारा सम्पादित होता है। हमारे जमाने में सम्पत्ति सब बुराइयों का मूल हो रही है। यह सम्पत्ति उन लोगों के दुःखों का कारण है जो उसके स्वामी हैं अथवा जिनके पास उसका अभाव है। यह सम्पत्ति उन लोगों की अन्तरात्मा की पीड़ा का कारण है कि जो सम्पति का दुरुपयोग करते हैं; और यह सम्पत्ति ही उस भय का कारण है, जो गरीबों और अमीरों के संघर्ष से पैदा होने वाला है।

सम्पत्ति सब पापों का मूल है, किन्तु फिर भी हमारे आधुनिक समाज की सारी प्रवृति सम्पत्ति-सम्पादन की ओर ही लगी हुई है, और संसार की समस्त प्रवृत्तियों का लक्ष्य भी यह संपत्ति ही बन रही है। राज्य और राजतंत्र इसी सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए—अफ्रिका, चीन और बालकन के भू-भागों को अधिकार में लाने के लिए—षड़यंत्र रचते हैं और युद्ध करते

हैं। बैङ्कर, व्यापारी, कारखानेदार, जमीदार मजदूर, आदि सभी इसी की खातिर तरह-तरह की चालें चलते हैं और अपने को तथा दूसरों को दुःख देते हैं। सरकारी कर्मचारी व कलाकार सम्पत्ति के लिए ही झगड़ा करते हैं, एक दूसरे को धोखा देते हैं और दुःख उठाते हैं। न्यायालय और पुलिस सम्पत्ति की रक्षा के लिए बने हैं। आजन्म कैद, जेलखाने और तरह-तरह के दण्ड विधान ये सब बातें सम्पत्ति के कारण ही अस्तित्व में आई हैं। सम्पत्ति सारे अनर्थों का मूल है; परन्तु सारी दुनिया इसी सम्पत्ति के संरक्षण और विभाजन में व्यस्त है।

किन्तु यह सम्पत्ति है क्या चीज? लोग ऐसा समझा करते हैं कि सम्पत्ति वास्तव में ऐसी चीज है, जिस पर मनुष्य का स्वत्व है, जो उसकी निजी चीज है। इसीलिए वे कहा करते हैं कि यह चीज हमारी है। घर और जमीन को भी हम सम्पत्ति कहा करते हैं। किन्तु वास्तव में यह एक भ्रम और वहम है। हम जानते हैं और यदि जानते नहीं हैं तो आसानी से जान सकते हैं कि सम्पत्ति और कुछ नहीं दूसरों की मजदूरी से लाभ उठाने का केवल एक साधन है। और दूसरों की मजदूरी हमारी अपनी कभी हो ही नहीं सकती, ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो इस प्रकार की सम्पत्ति अपनी मिल्कियत नहीं हो सकती।

मनुष्य सदा उस चीज को अपना कहता रहा है और

कहता रहेगा कि जो उसकी मर्जी के मुताबिक व्यवहार में लाई जा सकती है और जो उसकी आत्मा से सम्बद्ध है। मनुष्य का शरीर ही मनुष्य की सच्ची सम्पत्ति है और ज्योंही वह किसी ऐसी चीज को अपना कहना शुरू करता है, जो उसका शरीर तो नहीं है किन्तु जिसे वह शरीर की ही तरह अपनी इच्छा के अधीन रखना चाहता है, त्योंही वह एक भूल में प्रवेश करता है, जिसके परिणाम-स्वरूप उसे निराशा और व्यथा भोगनी पड़ती है और दूसरों को भी वह दुःख भोगने के लिए बाध्य करता है। मनुष्य अपनी स्त्री को अपना कहता है; अपने बच्चों, अपने दास-दासियों और अपनी अन्य चीजों को भी अपना कहता है; किन्तु वस्तु-स्थिति सदा उसकी भूल को प्रकट कर देती है। मनुष्य को चाहिए कि या तो वह अपने इस वहम को छोड़ दे, अन्यथा वह खुद दुःखी होगा और दूसरों को भी दुःखी बनायगा।

आजकल यों तो नाम के लिए दास-प्रथा को हमने त्याग दिया है, किन्तु हमने धन सञ्चित करने का अधिकार सुरक्षित रख छोड़ा है और इसी धन के द्वारा हम दूसरों की मेहनत-मजदूरी का उपभोग करते हैं।

किन्तु अपनी स्त्री और अपने बच्चों, दास-दासियों और घोड़ों को अपना कहना बिलकुल झूठ और कपोल-कल्पित है

और वस्तु-स्थिति के सामने इस कल्पना की पोल खुल जाती है और जो लोग इस कल्पना में विश्वास रखते हैं उनको इससे केवल दुःख ही पहुँचता है। क्योंकि स्त्री और पुत्र ठीक हमारे शरीर के भाँति हमारी इच्छा के आधीन कभी न होंगे, इसलिए हमारा शरीर ही एक ऐसी चीज है, जिसे हम अपना कह सकते हैं। इसी प्रकार धन पर भी हमारा सच्चा स्वत्व कभी नहीं हो सकता, उसको अपना मान कर हम केवल अपने को धोखा और दुःख ही दे सकते हैं। यह तो मेरा शरीर ही एक मात्र ऐसी चीज़ है जो मेरा है, जो मेरी सच्ची सम्पत्ति और सदा मेरी आज्ञा पालन करने के लिए तत्पर रहता है और जो मेरी आत्मा से सम्बद्ध है।

हम लोग जो अपने शरीर के अतिरिक्त दूसरी चीज़ों को अपना समझने के आदी हैं, वही इतने बड़े वहम को उपयोगी और दुष्परिणामों से रहित समझते हैं। किन्तु हमें इस विषय पर जरा विचार करने ही की ज़रूरत है और फिर हम यह समझ जायँगे कि अन्य सभी वहमों की तरह यह वहम भी भयंकर परिणामों वाला है।

एक बिलकुल सीधा-सा उदाहरण ले लीजिए। मैं अपने को अपनी सम्पत्ति समझता हूँ और मेरे ही जैसा एक दूसरा आदमी है उसको भी मैं अपनी सम्पत्ति समझता हूँ। भोजन बनाना

तो सीखना ही चाहिए, यदि मैं दूसरे मनुष्य को अपना समझने के वहम में न फँसा होता तो अपने को पाकशास्त्र तथा अन्य सभी बातों की जो मेरी सच्ची मिल्कियत अर्थात् मेरे शरीर के लिए ज़रूरी हैं, सिखाता; किन्तु मैंने यह सब बातें सिखाईं अपनी कल्पित सम्पत्ति को, और इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा रसोइया मेरी इच्छानुसार काम नहीं करता है, मेरे पास से भाग जाता है या मर जाता है। इस प्रकार मेरी इच्छायें अपूर्ण रह जाती हैं। मैं खाना बनाने की आदत खो बैठता हूँ जिससे मुझे रह-रह कर यह खयाल आता है कि मैंने रसोइया के लिए जितना समय दिया और कष्ट उठाया उतना श्रम और समय यदि मैं स्वयं भोजन बनाना सीखने में व्यय करता तो कैसा रहता?

मकान, कपड़े, बर्तन, जमीन, जायदाद रुपये-पैसे की मिल्कियत के विषय में भी यही कहा जा सकता है। प्रत्येक कल्पित सम्पति में ऐसा होता है कि जरूरत सदा पूरी नहीं हो पाती और मेरी तो सच्ची सम्पत्ति मेरा शरीर है, उसके लिए समस्त आवश्यक ज्ञान, कौशल, स्वभाव जो मैं प्राप्त कर सकता था नहीं प्राप्त कर पाया। परिणाम यह निकला कि मैं अपनी शक्ति और कभी-कभी तो अपना सारा जीवन किसी ऐसे व्यक्ति या ऐसी चीज के ऊपर व्यय कर बैठता हूँ कि जो मेरी सम्पत्ति न तो कभी थी और न कभी हो ही सकती है।

मैं अपना समझ कर 'अपना' पुस्तकालय बनाता हूँ, 'अपनी' चित्रशाला स्थापित करता हूँ, 'अपना' घर बनाता हूँ, मुझे जो कुछ चाहिए उसे खरीदने के लिए मैं अपना पैसा रखता हूँ, और इसका परिणाम यह होता है कि जो कल्पित सम्पत्ति है उसको सच समझ कर मैं सच्ची और कल्पित सम्पत्ति के बीच जो भेद है उसको भूल जाता हूँ, मेरी अपनी सच्ची सम्पत्ति पर तो मेरा अधिकार रहता है, मैं उसको सुधारने के लिए मेहनत कर सकता हूँ, वह मेरी सच्ची सेवा कर सकती है और सदा मेरे कहे में रहती है; किन्तु कल्पित सम्पत्ति मेरी कभी होती नहीं है, और कभी हो सकती नहीं—फिर चाहे मैं उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारूँ।

शब्दों के अर्थ को हम बिगाड़ न दें तो उनका सदा एक निश्चित अर्थ हुआ करता है।

सम्पत्ति ❀ का अर्थ क्या है ?

सम्पत्ति वह चीज है, जो मेरी है; जो बिलकुल मेरे ही लिए दी गई है; जिसका मैं जब जैसा चाहूँ उपयोग कर सकूँ जिसे दूसरा कोई मुझसे छीन न सके; जो जीवन-पर्यन्त मेरी ही बनी रहती है; और जिसमें मैं वृद्धि और सुधार कर सकूँ।

❀ यहाँ सम्पत्ति के लिए (Property) शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रत्येक मनुष्य की ऐसी सम्पत्ति तो उसके शरीर के सिवा और दूसरो कोई चीज नहीं हो सकती।

आज इसी अर्थ में कल्पित सम्पत्ति का प्रयोग होता है और यह वही कल्पित सम्पत्ति है कि जिसे असली सम्पत्ति बनाने की असम्भव धुन के कारण ही संसार में इतना दुःख फैला हुआ है—ये युद्ध, फाँसी, दण्ड, कैदखाने, भोग-विलास, दुराचार, हत्या और मानवजाति के सर्वनाश के साधन प्रचलित हो रहे हैं।

तब क्या हो, यदि दस-पाँच मनुष्य आवश्यकता से बाध्य होकर नहीं, प्रत्युत मनुष्य को शारीरिक श्रम करना चाहिए इस कर्तव्य के ज्ञान से प्रेरित होकर, हल जोतें, लकड़ी चीरें और जूते बनाने लगें और यह समझने लगें कि वे जितना अधिक काम करेंगे उतना ही अच्छा है ?

इसका फल यह होगा कि दस आदमी या अकेला एक ही मनुष्य विचार और कृति के द्वारा लोगों को यह दिखा देगा कि ये भयानक दुःख जो लोग भोग रहे हैं कोई दैव-निर्मित नियम या ईश्वरेच्छा या ऐतिहासिक आवश्यकता की बात नहीं प्रत्युत सिर्फ एक वहम है और वह वहम भी कोई जबरदस्त और अत्यधिक शक्तिशाली नहीं बल्कि कमजोर और नहीं के समान है और जिसे छोड़ने के लिए किसी बहुत बड़े प्रयास की जरूरत नहीं, केवल मूर्ति की पूजा की तरह इसमें भी अविश्वास करने ही

की देरी है कि फिर मकड़ी की जाले की तरह यह नष्ट होजायगा।

जो लोग जीवन के आनन्दमय नियम का पालन करने के लिए श्रम धर्म का निर्वाह करने के लिए, मेहनत करना शुरू करेंगे वे अपने को सम्पत्ति सम्बन्धी अपार दुःखमय वहम से मुक्त कर लेंगे और तब ये समस्त सांसारिक संस्थायें, जो मनुष्य के अपने निजी शरीर के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की कल्पित सम्पत्ति की रक्षा के निमित्त बनी हुई है, केवल अनावश्यक ही नहीं भार-रूप जान पड़ने लगेगी और यह स्पष्ट हो जायगा कि ये संस्थायें आवश्यक नहीं बल्कि हानिकारक, काल्पनिक और झूठी हैं।

जो मनुष्य श्रम को अभिशाप न समझ कर आनन्द का कारण मानता है उसके लिए अपने शरीर के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति, अर्थात् दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने की सत्ता और सम्भावना केवल व्यर्थ ही नहीं बाधक भी मालूम होगी। मुझे अपना खाना अपने आप बनाने में मजा आता है और मुझे उसकी आदत भी पड़ गई है। अब यदि कोई दूसरा आदमी मेरे लिए खाना बनाता है तो वह मुझे मेरे दैनिक काम से वञ्चित कर देता है और वह मुझे इतना संतोष न दे सकेगा जितना कि मैं खुद अपने हाथ से खाना बनाकर अपने को संतुष्ट किया करता था। ऐसे मनुष्य के लिए कल्पित संपत्ति का सञ्चय करना आवश्यक न होगा। जो मनुष्य श्रम में ही जीवन मानता

है और जीवन को श्रम से ओत-प्रोत कर लेता है, उसे सम्पत्ति की अर्थात् दूसरे लोगों की मेहनत का उपयोग करने—खाली समय को किसी प्रकार बिताने और जीवन को रसमय बनाने—के साधनों की बहुत ही कम ज़रूरत रह जायगी।

यदि मनुष्य का जीवन श्रम में लगा हुआ हो तो उसे न तो बहुत सारे कमरों, कपड़ों और सामान की जरूरत होती है, न अत्यधिक खर्चीले भोजन की, सवारी शिकार और मनोरञ्जन की। विशेषतः जो मनुष्य श्रम को जीवन का कर्तव्य और जीवन का आनन्द मानता है वह दूसरों के श्रम का उपभोग करके अपने श्रम को कम करने की चेष्टा न करेगा।

जो मनुष्य मानता है कि श्रम ही जीवन है वह ज्यों-ज्यों कौशल, धैर्य और चातुर्य प्राप्त करता जायगा त्यों-त्यों वह अधिकाधिक काम करने की कोशिश करेगा और एक क्षण भी व्यर्थ खोना पसन्द न करेगा। जो मनुष्य श्रम करना ही जीवन का उद्देश्य समझता है और फल के विषय में निस्पृह है तथा श्रम के द्वारा सम्पत्ति सञ्चय करना जिसका लक्ष्य नहीं है, वह औजारों के विषय में कभी प्रश्न न करेगा। ऐसा आदमी यद्यपि सदा ही अत्यन्त उत्पादक औजारों को अपने उपयोग के लिए चुनेगा, किन्तु जरूरत पड़ने पर अनुत्पादक औजारों से काम करने में भी वह वैसा ही सन्तोष प्राप्त करेगा।

यदि उसके पास भाफ से चलने वाला हल है, तो वह उससे जोतेगा; यदि ऐसा हल उसके पास नहीं है, तो वह घोड़ों से चलनेवाले हल से जोतेगा; वह भी न होगा, तो वह सीधे-सादे पुरानी चाल के हल से जोतेगा; और यदि यह भी न मिल सकेगा तो वह फावड़े से काम चलायेगा। गर्जेकि हर हालत में वह अपने उद्देश्य को पूरा करेगा—अर्थात् वह मनुष्योपयोगी श्रम करके अपना जीवन बितायेगा और आन्तरिक सन्तोष को प्राप्त करेगा। ऐसे मनुष्य का जोवन बाह्य और आन्तरिक दोनों ही हालतों उस मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक सुखमय होगा कि जिसने अपना जीवन सम्पत्ति का सञ्चय करने में लगा रक्खा है।

बाह्य दृष्टि से यह लाभ होगा कि उसे कभी किसी बात की कमी न रहेगी, क्योंकि जब मनुष्य यह देखेंगे कि यह आदमी काम से जी नहीं चुराता और बड़े प्रेम और शोक से मेहनत करता है, तो वे हर प्रकार उसके श्रम को अधिक से अधिक फल प्रद बनाने की कोशिश करेंगे, जैसे कि जोर से बहते हुए पानी के ऊपर लोग दौड़ कर पनचक्की बनाने जाते हैं। इस मनुष्य के श्रम को अधिक उत्पादक बनाने के लिए वे उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देंगे, जो वे किसी ऐसे आदमी के लिए कभी करना पसन्द नहीं करेंगे कि जिसने अर्थ-सञ्चय को अपना ध्येय बना रक्खा है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति

हो जाना बस, इसी बात की मनुष्य को जरूरत होती है।

आन्तरिक दृष्टि से ऐसा मनुष्य अर्थ-सञ्चय करने वाले मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुखी होगा, क्योंकि सम्पत्ति-प्रेमी मनुष्य की तृष्णा कभी पूरी न होगी और श्रम-धर्मी मनुष्य की फिर चाहे वह बूढ़ा, दुर्बल और मरणासन्न ही क्यों न हो—अपनी शक्ति के अनुसार काम करके पूर्ण सन्तोष तथा अपने साथियों की प्रीति और सहानुभूति प्राप्त कर सकेगा।

इसका एक परिणाम तो यह होगा कि कुछ विचित्र और तरङ्गी लोग सिग्रेट पीने, ताश खेलने और अपनी सुस्ती को लिए-लिए इधर-उधर घूमते फिरने के बजाय हल जोतने, जूते बनाने आदि का काम करेंगे। प्रत्येक दिमागी काम करने वाले मनुष्य के पास १० घंटे खाली होते हैं, उन्हें श्रम में लगा कर उनका उपयोग लोग करेंगे।

दूसरा परिणाम यह होगा कि ये सनकी लोग क्रियात्मक रूप से यह सिद्ध कर देंगे कि वह कल्पित सम्पत्ति कि जिसके लिए मनुष्य इतना कष्ट उठाते हैं, खुद दुःख झेलते हैं और दूसरों को दुःख देते हैं, आनन्द प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं है बल्कि बाधक है और सिर्फ एक वहम है; मनुष्य की सच्चीस म्पत्ति तो उसके हाँथ-पाँव और उसका सिर है। और इस वास्तविक सम्पत्ति का आनन्दमय सदुपयोग करने के लिए यह आवश्यक

है कि शरीर के अतिरिक्त भी कोई सम्पत्ति है,इस असत्य विचार से अपने को मुक्त कर लें; क्योंकि असद्विचार के कारण ही हम झूठी सम्पत्ति पर अपनी अधिकाँश जीवन शक्ति को नष्ट कर देते हैं।

एक और परिणाम यह होगा; ये लोग इस बात को सिद्ध कर देंगे कि जब मनुष्य कल्पित सम्पत्ति में विश्वास करना छोड़ देता है तभी वह अपनी सच्ची सम्पत्ति का वास्तविक उपयोग करना सीखता है—अर्थात् तभी वह अपने शरीर से ठीक-ठीक काम लेता है, जिससे उसे सौगुना लाभ होता है और ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि जिसको हम अभी कल्पना भी नहीं कर सकते। और वह इतना उपयोगी, बलवान् और दयालु मनुष्य होगा कि जो हर कहीं अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा जो सबको अपना भाई समझेगा, जिसे सब लोग चाहेंगे, प्यार करेंगे और जिसे सब लोग समझ सकेंगे।

जब सर्वसाधारण इस प्रकार के दो-चार दस-पाँच 'सनकी' आदमियों को देखेंगे, तो समझ जायँगे कि आज जिन मुसीबतों में वे फँसे हुए हैं और जिनसे छुटकारा मिलने का कोई मार्ग नहीं सूझता, उससे बचने के लिए उस भयंकर गुत्थी को सुलझाने की जरूरत है कि जिसमें सम्पत्ति-सम्बन्धी वहम के कारण सब के सब बँधे पड़े हैं।

जो लोग यह दलील दिया करते हैं कि अकेला आदमी

क्या कर सकता है, उनके लिए इस उदाहरण से बढ़कर अच्छा जवाब नहीं हो सकता। नाविक लोग नौका को धार पर चढ़ा रहे हैं। क्या कभी ऐसा कोई नाविक हो सकता है कि जो यह समझकर नाव खेने से इन्कार करदे कि वह अकेला नाव को धार पर नहीं चला सकता ? जो कोई भी खाने-पीने और सोने जैसे पशु-जीवन के स्वत्वों के अतिरिक्त किसी मानव-कर्तव्य को मानता है, वह जानता है कि उसका कर्तव्य किस बात में है। नौका खेनेवाला नाविक जानता है कि उसे यथाशक्ति निर्दिष्ट दिशा में नौका को खेते रहना चाहिए। उसे यदि कोई दूसरा काम करना होगा तो वह नौका को ठिकाने पर पहुँचाने के बाद ही उसको करेगा। नाविक के विषय में अथवा सामुदायिक रूप में काम करनेवाले दूसरे लोगों के विषय में जो बात सच है वही समस्त मानव-समाज से सम्बन्ध रखने वाले काम के विषय में भी सच है। प्रत्येक मनुष्य यह कहकर कि मैं अकेला नौका को नहीं खे सकता पतवार फेंक दे, तो यह ठीक नहीं है। अपने निर्दिष्ट लक्ष्य को ध्यान में रखकर नाव को एक ही दिशा में खेना चाहिए ऐसी बुद्धि प्रत्येक नाविक को स्वभावतः होती है। हमें किस दिशा में जाना है, यह बात स्पष्ट है और अपने आस-पास के लोगों के जीवन में, अन्तरात्मा की प्रेरणा में और आजतक जो मानव-ज्ञान व्यक्त हुआ है उसमें यह दिशा इतनी स्पष्टता के साथ

झलकती है कि जो आदमी काम करना नहीं चाहता वही यह कहेगा कि उसको वह दिशा दिखाई नहीं देती है।

हाँ, तो इसका क्या परिणाम होगा ?

परिणाम यह होगा कि पहले एक आदमी, फिर दूसरा नाव खेना शुरू करेगा और तब उनको देखा-देखी तीसरा आदमी भी शामिल हो जायगा और इसप्रकार एक-एक करके काफी आदमी शरीक हो जायँगे, जिससे काम चल निकलेगा और ऐसा मालूम होने लगेगा कि जैसे वह काम स्वतः हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप और लोग भी जो यह नहीं समझते हैं कि यह काम क्यों और किसलिए किया जा रहा है,उसमें योग देने लगेंगे।

ईश्वरीय नियम का पालन करने के लिए ज्ञान-पूर्वक जो लोग काम करते हैं उनमें पहले तो वे लोग शामिल होंगे, जो काम के महत्त्व को कुछ तो बुद्धि से और कुछ श्रद्धा से स्वीकार करेंगे। इसके बाद इनसे भी अधिक संख्या में वे लोग सम्मिलित होंगे, जो अग्रगामी लोगों पर श्रद्धा रखते हैं। और फिर तो अधिकांश जनता योग देने लगेगी और इस प्रकार लोग अपने सर्वनाश का मार्ग बन्द करके सच्चे आनन्द को प्राप्त करेंगे।

यह तब होगा (और यह जल्दी ही होने वाला है) कि जब हमारे वर्ग के लोग और उनके साथ ही साथ अधिकाँश काम करनेवाले लोग पाखानों को साफ करना लज्जाजनक नहीं समझेंगे

बल्कि इस बात को सहन करना वह लज्जाजनक समझेंगे कि उनके गन्दे किये हुए पाखानों को दूसरे हमारे भाई साफ करें। साधारण जूते पहनकर लोगों से मिलने जाने में वे लज्जित न होंगे बल्कि नंगे पाँव चलनेवाले लोगों के सामने बड़े-बड़े कीमती बूट पहनकर जाने में वे लज्जित होंगे, यदि उन्हें फ्रेंच भाषा या नवीनतम उपन्यास का ज्ञान नहीं है तो इससे वे लज्जा का अनुभव न करके इस बात से लज्जित होंगे कि वे रोटी खाते तो हैं पर उसे बनाना नहीं जानते; दस्तकारी की हुई कमीज या साफ पोशाक न पहननेसे वे लज्जित न होंगे किन्तु आलस्य का परिचय देने वाले साफ कोट को पहनकर घूमने-फिरने से वे लज्जित होंगे, काम के कारण हाथों को मैला देखकर वे लज्जित न होंगे। बल्कि अपने हाथों में कार्यजनित रेखा न देखकर वे शरमिंदा होंगे।

ये सब बातें तब होंगी, जब जनता जागृत होकर इन बातों को माँगेगी और जनता इन बातों को उस वक्त माँगेगी कि जब मनुष्य उन मोह-पाशों से मुक्त हो जायँगे कि जो उनकी दृष्टि में सत्य को छिपाये हुए हैं। मेरे ही देखते-देखते इस सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। जनता के विचारों में परिवर्तन होने ही से ये परिवर्तन अस्तित्व में आये। ये परिवर्तन तो मेरे सामने हुआ है कि जहाँ पहले अमीर लोग चार घोड़ों की गाड़ी और दो नौकरों के बिना बाहर निकलते थे तो उन्हें शर्म मालूम

होती थी और नहलाने और कपड़े पहनाने तथा अन्य सेवाओं के लिए नौकर या दासी को न रखना लज्जाजनक समझते थे, वहाँ अब एकाएक यह परिवर्तन हुआ है यदि कोई खुद न नहाये और कपड़े खुद न पहने या नौकरों को गाड़ी के साथ ले जाय तो यह लज्जा की बात समझी जाती है। ये सब परिवर्तन लोकमत के द्वारा ही हुए हैं।

क्या हम उन परिवर्तनों को नहीं देख पाते कि जो लोकमत के द्वारा अब हो रहे हैं। ? पचीस वर्ष पहले दासता का समर्थन करनेवाले वाक्जाल का जब भंजन हुआ तो लोकमत ने स्तुत्य क्या है और निन्द्य क्या है इस विषय में अपनी धारणा में परिवर्तन कर लिया और इसके परिणामस्वरूप जीवन बदल गया। वैसे ही अब जरूरत इस बात की है कि जो दलीलें धन की सत्ता का समर्थन करती हैं उनका खण्डन किया जाय। इससे स्तुत्य और निन्द्य क्या है इस विषय में लोकमत में परिवर्तन हो जायगा और जीवन फिर बदल जायगा।

किन्तु धन की सत्ता का समर्थन करनेवाले मोह-जाल का खण्डन और इस विषय में लोक-मत का परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहा है। वह मोह-जाल बिल्कुल स्पष्ट और पारदर्शी है और सत्य को अधिक देर तक छिपा नहीं सकता। यदि कोई जरा बारीकी से विचार करे तो उसे स्पष्ट मालूम होगा कि लोक-

मत में जिस परिवर्तन के होने की अनिवार्य आवश्यकता है, वह परिवर्तन हो गया है; केवल लोग अभी उसे अच्छी तरह जान नहीं पाये हैं और उसका नामकरण संस्कार अभी नहीं हुआ है।

हमारे जमाने का साधारण पढ़ा लिखा आदमी यदि उन परिणामों का विचार करे, जो विश्व-सम्बन्धी उसकी धारणाओं से फलित होते हैं, तो वह देखेगा कि धर्म अधर्म स्तुत्य और निन्द्य की जो कल्पना उसने बना रक्खी है, और जिसके अनुसार वह अपने जीवन में व्यवहार करता है, वह उसकी जीवन सम्बन्धी धारणाओं के एकदम प्रतिकूल है।

उदाहरण के लिए हम धनिक वर्ग के एक युवक को लेते हैं। प्रत्येक भला युवक बूढ़े, बच्चे और स्त्री को सहायता देने से इन्कार करना लज्जा जनक समझेगा। अपनी जान बचाकर अपने साथी के प्राण और स्वास्थ्य को खतरे में डालना वह लज्जाजनक समझता है। हर कोई उन 'किरघील' लोगों की तरह व्यवहार करना घोर निन्द्य और पशुता-पूर्ण कर्म समझेगा कि जो तूफान के समय अपनी पत्नियाँ और बूढ़ी स्त्रियों को तम्बू के खूँट पकड़े रहने के लिए बाहर भेजे देते थे और खुद तम्बू के अन्दर बैठ कर शराब पीते थे। प्रत्येक मनुष्य किसी कमजोर आदमी से काम कराना बुरा समझता है। और खास कर ऐसे खतरे के समय कि जैसे जहाज में आग लगी हो, किसी बलवान मनुष्य का

दूसरों को एक ओर ढकेल कर पहले जीवन-रक्षिणी नौका में जा बैठना अत्यन्त लज्जा-जनक समझा जायगा। मनुष्य इन कामों को बुरा और लज्जा-जनक समझते हैं और ख़ास-ख़ास मौकों पर वे ऐसे काम कभी न करेंगे, किन्तु दैनिक जीवन में इसी प्रकार और कभी-कभी तो इनसे भी बुरे काम इन लोगों के द्वारा किये जाते हैं—केवल इस लिए कि उनकी बीभत्सता शब्द-जाल से ढकी रहती है।

मनुष्य यदि ज़रा विचार करे तो अपने जीवन की बीभत्सता को वह देख और समझ सकेगा।

एक युवक रोज कमीज़ें बदलता है। उन कमीजों को साफ़ कौन करता है ? उनको साफ करने वाली एक औरत होती है, जो अवस्था में उसकी माता अथवा मातामही के समान होगी और जो प्रायः बीमार रहती है। यही युवक किसी दूसरे आदमी को यदि ऐसा करता देखे, यह देखे कि केवल शौकीनी की ख़ातिर वह रोज कपड़े बदलता है और उन्हें एक बेचारी बूढ़ी औरत से धुलवाता है, जो अवस्था में उसकी माता के समान है, तब वह अपने मन में उसे क्या कहेगा ?

एक नवयुवक अपनी शान की ख़ातिर घोड़े ख़रीदता है और उनको काढ़ने का काम एक बूढ़े आदमी को सौंपता है, जो अवस्था में उसके पिता या पितामह के समान है और इस प्रकार

उसकी जान को जोखम में डालता है और यह नवयुवक उन घोड़ों पर उस समय सवार होता है जब वे सध जाते हैं और खतरा दूर जाता रहता है। यही नवयुवक किसी दूसरे आदमी को ऐसा करता हुआ देखे, यह देखे कि अपने को खतरे के काम से बचा कर अपने शौक की खातिर दूसरे आदमी को खतरे में डालता है, तो वह उसके लिए अपने मन में क्या कहेगा ?

ये केवल कल्पना ही की बातें नहीं हैं। अमीर लोगों का सारा जीवन वास्तव में ऐसी ही बातों से भरा रहता है। बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों का शक्ति से ज्यादा मेहनत करना और दूसरे लोगों के द्वारा ऐसे कामों का किया जाना जो जोखम से भरे हुए हैं और जो काम में सहायता देने के लिए नहीं बल्कि केवल निरर्थक इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए कराए जाते हैं, ऐसी ही बातों से हमारा जीवन भरा रहता है। मछुआ हमारे लिए मछलियों का शिकार करते-करते डूब मरता है। धोबिन सरदी खाते खाते मर जाती है, लोहार अन्धा हो जाता है। कारखानों में काम करने वाले रोगी हो जाते हैं या मशीन से कटकर लङ्गड़े-लूले हो जाते हैं, लकड़हारे वृक्षों के नीचे दब जाते हैं, मजदूर छत पर से गिर कर मर जाते हैं, और दर्जिन सीते-सीते दुबली हो जाती है। प्रत्येन प्रकार की मजदूरी में तन्दुरुस्ती और जिन्दगी का खतरा रहता है। इस बात को छिपाना या उसको न

देखना असम्भव है। इस स्थिति में से बचने का एक ही उपाय है। कोई भी आदमी जो अपने को बचाकर दूसरे की तन्दुरुस्ती और जिन्दगी को खतरे में डालता है, वह हमारी अपनी ही धारणा के अनुसार दुष्ट और कायर है। यदि हम इन दोषों से बचना चाहते हैं,तो हमें चाहिए कि हम दूसरों से उतना ही काम करायें जितना जीवन-रक्षा के लिए जरूरी है और साथ ही हम स्वयं भी ऐसे श्रम में भाग लेनेसे न हिचकें कि जिसमें स्वास्थ्य और जीवन को हानि पहुँचने की सम्भावना हो।

मेरी जिन्दगी में ही कई विचित्र परिवर्तन हुए हैं। मुझे याद है, पहले यह कायदा था कि खाने के समय प्रत्येक मनुष्य की कुर्सी के पीछे एक आदमी तश्तरी लिए खड़ा रहता था। लोग जब किसी से मिलने जाते थे तो अपने साथ दो नौकरों को ले जाते थे। लोगों को 'पाइप' देने और उन्हें साफ करने के लिए कमरे में एक लड़का और एक लड़की खड़े रहते थे। अब ये सब बातें हमें विचित्र-सी मालूम पड़ती हैं। किन्तु क्या यह भी उतनी ही विचित्र बात नहीं है कि एक युवक या युवती या कोई प्रौढ़ पुरुष किसी मित्र से मिलने जाय तो नौकरों को घोड़े कसने का हुक्म दे और खूब मोटे-ताजे घोड़े केवल इसी काम के लिए रक्खे जायँ ? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि एक आदमी पाँच कमरे में रहे या एक स्त्री अपनी पोशाक

पर सैकड़ों हजारों रुपये खर्च करे जब कि ज़रूरत सिर्फ इस बात की है कि वह कुछ रूई या ऊन ले कर काते और उससे अपने लिए अपने पति और बच्चों के लिए कपड़े तैयार कराये ?

क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि लोग निकम्मा जीवन व्यतीत करते हैं, कुछ भी काम नहीं करते, केवल इधर-उधर सैर-सपाटा करते हैं. सिगरेट पीते हैं, ताश खेलते हैं, और उनको खाने-पिलाने तथा गरम रखने के लिए आदमियों की एक फौज की फौज लगी रहती है ?

क्या यह आश्चर्य जनक नहीं है कि वृद्ध पुरुष समाचारपत्रों में नाटकों और सीनेमाओं की चर्चा करें और दूसरे लोग उन्हें देखने के लिए दौड़ते जायँ !

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हजारों-लाखों लड़कों और लड़कियों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है कि जिससे वे किसी भी काम के करने के काबिल नहीं रहते—वे जब स्कूल से घर को जाते हैं,तो उनकी दो चार किताबों को भी ले जाने के लिए नौकरों की जरूरत होती है ?

जल्दी ही एक ऐसा समय आनेवाला है—बल्कि वह नजदीक आ पहुँचा है कि जब नौकरों द्वारा परोसा हुआ पाँच प्रकार के पकान्नों का भोजन करना लज्जाजनक समझा जायगा, इतना ही नहीं बल्कि जो भोजन स्वयं अपने हाथों से न बनाया गया हो

उसे खाना भी लज्जाजनक समझा जायगा; पैरों के होते हुए घोड़े पर चढ़ना या बग्घी में बैठना लज्जाजनक समझा जायगा; छुट्टी के दिनों के सिवा ऐसे कपड़े, दस्ताने और जूते पहन कर फिरना कि जिनको पहन कर काम करना मुश्किल हो, लज्जा-का कारण होगा; जब लोगों को दूध और रोटी नहीं मिल सकती तब कुत्तों को दूध-रोटी खिलाना लज्जाजनक समझा जायगा; डेढ़ सौ या दो सौ पौंड का पियानो बजाना, जब कि दूसरों को एक-एक पौंड के लिए मरना खपना पड़ता है, लज्जाजनक समझा जायगा, जबतक ऐसे आदमी मौजूद हैं जिनके पास न प्रकाश है न ईंधन है, तब तक रोशनी में काम करने की जरूरत के बिना लालटेनों और मोमबत्तियों को जलाना और रोटी बनाने की जरूरत के बिना चूल्हा जलाना लज्जाजनक समझा जायगा। तब नाटक देखने और गाना सुनने के लिए एक पौंड तो क्या, ६ पेन्स भी खुल्लमखुल्ला देना असम्भव होगा। और यह सब उस समय होगा जब लोकमत श्रम-धर्म को स्वीकार कर लेगा।

बाइबल में लिखा है कि श्रम करना मनुष्य का धर्म है और सन्तान उत्पन्न करना स्त्री का धर्म है। विज्ञान कुछ भी कहा करे, किन्तु स्त्री और पुरुष का जो धर्म है वह तो वैसाही अपरिवर्तनीय है कि जैसा शरीर में जिगर का स्थान; और उस धर्म की अवहेलना करने से निश्चित रूप से मौत की सजा मिलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जब मनुष्य अपने धर्म का उल्लंघन करता है, तो उसे अत्यन्त निकट-भविष्य में मौत की सजा मिलती है, किन्तु स्त्री जब अपना धर्म नहीं पालन करती है तो उसका दण्ड कुछ देर से मिलता है।

यदि सभी मनुष्य अपने धर्म का पालन करना छोड़ दें, तो उससे मनुष्यों का तुरन्त ही नाश हो जाता है और

स्त्रियों के धर्म-पालन न करने से दूसरी पीढ़ी के लोगों का नाश होता है। यदि कुछ थोड़े से स्त्री-पुरुष इन प्राकृतिक नियमों का पालन नहीं करते तो इससे समस्त मानव-जाति का नाश तो नहीं होता किन्तु अपराधी का बौद्धिक विकास रुक जाता है और उसके मानव-स्वभाव का ह्रास होता है।

जो जातियाँ दूसरों पर बलात्कार कर सकती थीं उनके अन्दर तो मनुष्यों ने श्रम-धर्म की अवहेलना बहुत पहले ही से करना शुरू कर दी थी और वह बढ़ते-बढ़ते अब इस पागलपन की हद तक पहुँच गई कि उस नियम का उल्लंघन करना एक आदर्श बन गया है, 'जिसे महामान्य राजकुमार बोल्खिन' ने व्यक्त किया था और जिसे आजकल का हमारा समस्त शिक्षित संसार स्वीकार करता है। लोग यह समझ रहे हैं कि सारा काम तो मशीनों द्वारा हुआ करेगा और मनुष्य जो नसों का समूह मात्र है खूब आनन्दोपभोग करेगा।

स्त्रियों ने अपने धर्म का त्याग बहुत ही कम किया है। वेश्या-वृत्ति और यदा-कदा भ्रूण-हत्या के पाप में यह अभिशाप प्रकट हुआ है, पर धनिक वर्ग के पुरुषों ने जिस प्रकार अपने धर्म को एक दम ही तिलाञ्जलि दे दी उनकी स्त्रियों ने वैसा नहीं किया वे अपने धर्म का पालन करती रही हैं और इसीलिए स्त्रियाँ अधिक शक्तिशाली हो गई हैं और वे पुरुषों पर शासन कर रही

हैं, और उस समय तक शासन करती रहेंगी जब तक कि मर्द लोग अपने धर्म से च्युत हो कर परिणामतः अपनी बुद्धि से भी हाथ धोते रहेंगे।

आजकल प्रायः कहा जाता है कि स्त्रियाँ—खास कर पेरिस की सन्तान हीन स्त्रियाँ आधुनिक शृङ्गारिक साधनों का उपयोग करके इतनी मोहक हो उठी हैं कि उन्होंने अपने सौंदय से पुरुषों को पूर्णतः अपने वश में कर लिया है। यह बात ठीक नहीं है। वास्तव में यह वस्तुस्थिनि से बिलकुल उलटी है। सन्तानहीन स्त्रियोंने पुरुषों पर अधिकार नही प्राप्त किया है; यह अधिकार तो उन स्त्रियों ने प्राप्त किया है कि जिन्होंने अपने मातृत्व-धर्म को निबाहा है और उन पुरुषों पर अधिकार प्राप्त किया है कि जिन्होंने अपने धर्म-पालन में अवहेलना की है।

जा स्त्री कृत्रिम साधनों से सन्तानोपत्ति को रोकती है और जो अपने स्कन्ध और घुँघराले बालों का प्रदर्शन करके पुरुषों को मोहने की चेष्टा करती है, वह पुरुष पर अधिकार प्राप्त करने वाली नहीं है; वह तो एक ऐसी स्त्री है, जो पुरुष-द्वारा भ्रष्ट की गई है और भ्रष्ट हुए पुरुष के ही दर्जे को पहुँच गई है। ऐसी स्त्री और ऐसा पुरुष, ये दोनों ही अपने धर्म से च्युत हो गये हैं और, दोनों ही अपनी बुद्धि को भ्रष्ट करके अपने जीवन को धूल में मिला रहे हैं।

कभी दावा न करेंगी। वे तो धनिक वर्ग के इस श्रम के ढोंग में ही भाग लेने का दावा करतीं हैं।

हमारे वर्ग की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थीं और अब भी हैं; किन्तु इसका कारण उनका विमोहक सौंदर्य नहीं है और न उनकी शक्ति का यह कारण है कि वे पुरुषों की तरह झूठे श्रम का ढोंग रचने में कुशल हैं। उनकी शक्ति का कारण तो यह है कि उन्होंने अपने धर्म का उल्लंघन नहीं किया। उन्होंने अपने उस फ़र्ज़ को कि जिसमें जान तक का खतरा है, ईमानदारी से अदा करने की कोशिश की है। अपने सच्चे श्रम से धनिक-वर्ग के पुरुष हट गये हैं, किन्तु स्त्रियों ने उनकी तरह अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ा है।

किन्तु मेरी याददाश्त में स्त्रियों ने अपना धर्म छोड़ना शुरू कर दिया; अर्थात् उसका पतन होना प्रारम्भ हुआ, और मेरे देखते ही देखते वह अधिकाधिक बढता गया। जिस स्त्री ने अपना धर्म छोड़ दिया है वह यह समझती है कि उसका बल उसके सौंदर्य में अथवा मानसिक श्रम का ढोंग रचने की उसकी कुशलता में है और वह समझती है कि सन्तानोत्पत्ति से इन दोनों ही बातों में बाधा पड़ती है। इसलिए विज्ञान की सहायता से (विज्ञान सभी बुरे कार्यों में मदद देने के लिए सदा तैयार रहता है) मेरी याददाश्त में गर्भाशय का नाश करने तथा सन्तानोत्पत्ति

को रोकने के बीसियों साधनों का आविष्कार हो गया है और ये साधन इतने प्रचलित हो गये हैं कि वे रोजमर्रा के शृंगार का अंश बन गये हैं। परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों ने, माताओं ने जिनमें से अधिकांश धनिक वर्ग की हैं, अपने हाथ में जो शक्ति थी उसको खो दिया और अपने को गली-गली फिरने वाली स्त्रियों के दर्जे को पहुँचा दिया।

यह बुराई बहुत दूर तक फैल गई है और दिन ब दिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है और यदि यही हाल रहा तो जल्दी ही धनिक वर्ग की समस्त स्त्रियाँ इसके पंजे में फँस जायँगी और तब यह होगा कि स्त्री और पुरुष दोनों ही एक समान धर्म-भ्रष्ट हो जायँगे और पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी जीवन का सच्चा अर्थ भूल जायँगी। तब इस वर्ग का उद्धार होना असम्भव होगा। किन्तु अभी समय है; क्यों कि अब भी पुरुषों की अपेक्षा अपना धर्म पालन करने वाली स्त्रियाँ अधिक हैं। इसलिए अब भी इस वर्ग में ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं, जिनकी बुद्धि भ्रष्ट नहीं हुई है और हमारे समाज की इन्हीं धर्म-प्राण स्त्रियों के हाथ हमारा उद्धार हो सकने की सम्भावना है। काश स्त्रियाँ अपने महत्व और अपने बल को समझें और अपनी शक्तियों को अपने पति, अपने भाई और बच्चों को इस भयंकर भँवर में से निकालने में लगायें तो इसी में मनुष्य मात्र का कल्याण है।

ऐ धनिक-वर्ग की स्त्रियो और माताओ! हमारे वर्ग के पुरुष आज जिन बुराइयों में पड़े हुए दुःख भोग रहे हैं उनमें से उन्हें उबार लेना तुम्हारे हाथ में है!

किन्तु यह शक्ति उन स्त्रियों के हाथ में नहीं है, कि जो अपने शरीर शृंगार से सजा सजा कर सौंदर्य द्वारा मनुष्यों को मोहने में व्यस्त रहती हैं और जो अनिच्छा-पूर्वक दैवयोग से गर्भ रहजाने पर नैराश्य-मय अरुचि के साथ बच्चों को जन्म देती हैं और फिर तुरन्त ही उन्हें दाइयों के हाथ में सौंप देती हैं; और न यह शक्ति उन स्त्रियों के हाथ में है कि जो जगह-जगह सभाओं में व्याख्यान सुनने जाती और बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक बातों की चर्चा करती हैं और इस बात की कोशिश करती हैं कि उनके बच्चा पैदा न हो, क्योंकि इससे वे समझती हैं, उनकी उस महान मूर्खता में जिसे वे अपना विकास कहती हैं, बाधा पड़ती है। यह शक्ति तो उन्हीं स्त्रियों, उन्हीं माताओं के हाथ में है कि जो सन्तानोत्पत्ति के भार से अपने को मुक्त करने की शक्ति रखते हुए भी ईमान्दारी और समझदारी के साथ भगवान के बनाये हुए अपने परम-कर्तव्य का पालन करती हैं, क्योंकि वे समझती हैं कि इस कर्तव्य के भार को सहन करना ही उनके जीवन का उद्देश्य है। ऐसी ही स्त्रियों और माताओं के हाथ में हमारे धनिक वर्ग के पुरुषों का उद्धार है और वही उन्हें

उन दुःखों से उबार सकती हैं कि जिनके नीचे आज वे बे-तरह दबे हुए हैं।

हे स्त्रियो और माताओं, तुम में से जो ज्ञान-पूर्वक ईश्वरीय नियम का पालन करती हैं, वही हमारे इस बदनसीब और पतित मानवीयता रहित समाज में ऐसी हैं, जो धर्म के अनुसार जीवन के सच्चे अर्थ को जानती हैं और वही ऐसी हैं कि जो अपने दृष्टान्त से पुरुषों को उस आनन्द का ज्ञान करा सकती हैं, जो ईश्वरीय नियम का श्रद्धा-पूर्वक पालन करने से मनुष्य को प्राप्त होता है और जिससे हमारे समाज के पुरुषों ने अपने को वञ्चित कर रक्खा है।

भगवान के बनाये हुए नियमों का उल्लंघन न करने से मनुष्यों को जो अभूत-पूर्व आनन्द और हृदय को ओत-प्रोत करदेनेवाला जो शांतिमय सुख मिलता है, उसका स्वारस्य कुछ तुम ही जानती हो। पति-प्रेम के सुख का अनुभव केवल तुम ही करती हो। यह ऐसा सुख है, जिसका कभी अन्त नहीं होता, जो कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु एक नवीन प्रकार के सुख में परिणति प्राप्त करने का सूत्रपात करता है—और वह नवीन प्रकार का सुख क्या है ? बच्चे का प्रेम ! तुममें से जो सरल भाव से ईश्वर की इच्छा का पालन करती हैं, और जो पुरुषों की भाँति झूठे श्रम का ढोंग रचना पाप समझ कर भगवान के बताये हुए सच्चे कर्तव्य

के भार को सहर्ष वहन करती हैं वही जानती हैं कि इस श्रम का क्या पारितोषिक है—इससे कैसा आनन्द मिलता है।

सच्चा श्रम कैसा होता है इसको तुम ही जानती हो कि जब प्रेम-सुख के अनुभव के बाद भय और आशा-मयी भावनाओं के साथ तुम उस अवस्था में प्रवेश करती हो कि जो तुम्हें नौ महीने बीमार-सा रखने के बाद अन्ततः बालक के जन्म के समय तुम्हें असह्य वेदना और भयंकर यातना का अनुभव कराती है और उस महा-भयंकर प्रसव-वेदना के पश्चात् जो अलौकिक सुख, जो अपूर्व आनन्द मिलता है, उसका स्वाद और स्वारस्य भी तुम ही और केवल तुम ही जानती हो !

प्रसव की वेदना के पश्चात् तुम बिना रुके, बिना आराम किये तुरन्त ही बच्चे के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले लेती हो और उस समय तुम कितना श्रम करती हो, कितना कष्ट उठाती हो, इसको बस तुम्हीं जानती हो और अपने इस कर्तव्य-पालन में तुम इतनी तत्पर रहती हो कि मनुष्य की जो सब से ज़बरदस्त ज़रूरत निद्रा है, जिसे लोग माता-पिता से भी अधिक मधुर और प्रिय बताते हैं, उसे भी तुम भूल जाती हो और महीनों और वर्षों तक ऐसा होता है कि तुम लगातार दो-दो बजे रात तक आराम नहीं कर पातीं और कभी-कभी तो रात-रात भर जाग कर काटती हो और अपने उन थके हुए दुर्बल हाथों में बीमार

रोते हुए बच्चे को लिए हुए अकेली इधर-उधर घूमती हुई बच्चे को बहलाती हो और उधर बच्चे की पीड़ा रह-रह कर तुम्हारे कलेजे को चीरे डालती है। जब तुम यह करती हो तब कोई तुम्हें देखने या तुम्हें शाबासी देने नहीं आता, तुम भी किसी पुरस्कार या प्रशंसा की आशा से अथवा इसको कोई बहुत बड़ा काम समझ कर नहीं करती हो बल्कि खेत में काम करनेवाले किसान की भाँति केवल अपना कर्तव्य पालन करने के लिए ही जब तुम यह दुख और कष्ट सहन करती हो तब तुम्हारी समझ में आता होगा कि यश के लिए किये जानेवाले झूठे ढोंगी श्रम में और ईश्वर की इच्छा का पालन करने के लिए जो सच्चा श्रम करना पड़ता है उसमें कितना अन्तर है ! यदि तुम सच्ची माता हो तो तुम जानती होगी कि तुम्हारे इस श्रम को देख-देख कर किसी ने सराहा नहीं, इसे एक रोजमर्रा की साधारण-सी बात समझ कर किसी ने इसकी तारीफ़ नहीं की, इतना ही नहीं तुमने जिनके लिए इतना कष्ट उठाया वे भी कृतज्ञ होना तो दूर रहा तुम्हें अक्सर सताते और झिड़कते हैं। जब दूसरा बच्चा होनेवाला होता है तब फिर तुम वही काम, वैसा ही व्यवहार करती हो, फिर वही अदृश्य असह्य वेदना बिना किसी प्रकार के पुरस्कार की आशा के सहन करती हो, और इसी में सन्तोष का अनुभव करती हो।

यदि तुम ऐसी हो तो पुरुषों पर शासन करने की सत्ता और मनुष्य-जाति का उद्धार तुम्हारे हाथ में है। किन्तु तुम्हारी संख्या दिन-ब-दिन घट रही है। कुछ तो अपने जादू-भरे सौंदर्य से पुरुषों को मोहते-मोहते वेश्यायें बन जाती हैं, और कुछ पुरुषों के कृत्रिम और उपहास्य पुरुषार्थ के कामों में पुरुषों का मुकाबला करने में व्यस्त हैं, और बहुत-सी ऐसी हैं, जिन्होंने अपने कर्तव्य को छोड़ा तो नहीं है पर मन ही मन वे उसे बुरा समझने लगीं हैं—वे स्त्रियों के, माताओं के से काम तो करती हैं; किन्तु इच्छा न रहते हुए दैव-योग से यह भार आ पड़ने पर बड़ी ही अरुचि-पूर्वक मन ही मन कुढ़ती हुई वे उसे वहन करती हैं और दिल में उन स्त्रियों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करती हैं कि जो बच्चों के बोझ से बरी हैं और इस प्रकार वे अपने को आत्म-सन्तोष के उस एकमात्र पुरस्कार से भी वञ्चित कर देती हैं कि जो ईश्वर की इच्छा का पालन करने की आन्तरिक सजग भावना से उत्पन्न होता है। फलतः प्रसन्न और सन्तुष्ट होने के बजाय वे दुःखी होती हैं—और दुःखी होती हैं इस बात से कि जो वास्तव में उनका सच्चा सुख, उनका अत्यन्त मधुर और अनन्य आनन्द है।

हम धनिक-वर्ग के मर्द लोग अपने असत्यमय जीवन से इतने पतित हो रहे हैं, हम में से सभी सच्चे जीवन को एकदम

ऐसा भूल गये हैं कि हम लोगों में किसी में कोई भेद ही नहीं रहा है—सब एक हो गये हैं। जीवन में जो कठिनाइयाँ जो जोखमें हैं, उन्हें हमने दूसरों के सिर पर डाल दिया है और खुद मौज करते हैं। फिर भी हम अपने को उन लोगों में नहीं गिनते, जो अपने जीवन के ख़ातिर दूसरे लोगों को सर्वनाश के मुँह में ढकेलते नहीं झिझकते और जिन्हें दुनिया दुष्ट और कायर कह कर पुकारती है।

किन्तु, स्त्रियों में अब भी दो वर्ग हैं। कुछ तो ऐसी मानवीयता से परिपूर्ण स्त्रियाँ हैं, जो मनुष्यता का उच्चतम आदर्श हमारे सामने लाकर रखती हैं; और कुछ ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो वेश्यायें हैं। यह भेद ऐसा है, जो आगामी सन्तति देखे बिना न रहेगी और हम स्वयं भी इस वर्गीकरण को मानने के लिए बाध्य हैं।

प्रत्येक स्त्री जो विवाह करने के बाद भी बच्चे पैदा करने से इन्कार करती है, वेश्या है—फिर चाहे वह अपने को किसी नाम से क्यों न पुकारे, किसी भी फ़ैशन के कपड़े क्यों न पहने और कितनी ही सुसंस्कृत क्यों न हो।

और एक स्त्री पतित हो जाने पर भी यदि ईमान्दारी के साथ बच्चों को जन्म देकर उनका पालन-पोषण करती है, तो वह ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करके जीवन का उच्चतम और सुन्दर-

तम काम करती है और उससे बढ़कर दुनिया में कोई चीज नहीं है।

यदि तुम सच्ची स्त्री हो, तो तुम अपने बच्चों के पालन-पोषण का भार दूसरी अजनबी स्त्रियों को कभी सौंपना पसन्द न करोगी—ठीक उसी तरह कि जिस तरह कोई कारीगर अपने समाप्तप्राय काम किसी दूसरे को दे देना पसंद नहीं करता; क्योंकि उस काम में तुम्हारी जान है, और जितना ही तुम उस काम को करती हो उतना ही तुम्हें अधिक आनन्द आता है।

किन्तु, यदि तुम इस प्रकार की सच्ची स्त्री हो—और मनुष्यों के सौभाग्य से अभी ऐसी स्त्रियों की कमी नहीं है—तो ईश्वर की इच्छा का पालन करने के जिस नियम के अनुसार तुम अपने जीवन को व्यतीत करती हो, अवश्य ही तुम चाहोगी कि तुम्हारे पति, पुत्र और अन्य समीपवर्ती पुरुष भी उस नियम के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें। यदि तुम सच्ची स्त्री हो, अपने अनुभव से यह समझ गई हो कि आत्म-त्याग-मय, अलक्षित, अपुरस्कृत और जान-जोखमवाला श्रम और दूसरों के जीवन के लिए, अनन्यतम उद्योग करना ही मनुष्य का उद्देश्य है, जिससे सच्चा सन्तोष प्राप्त होता है, तो तुम अवश्य ही इस बात की इच्छा करोगी कि दूसरे लोग भी वैसा ही व्यवहार करें और तुम अपने पति को ऐसा ही श्रम करने के लिए उत्साहित

करोगी और इस श्रम की कसौटी पर कस कर ही तुम मनुष्य के महत्व और उसकी योग्यता को परखोगी और अपने बच्चों को भी ऐसा श्रम करने के लिए तैयार करोगी ।

जो स्त्री सन्तानोत्पत्ति को अरुचिकर संयोग समझती है, और जो काम-तृप्ति, ऐश-आराम, पढ़ने-लिखने और लोगों से मिल-जुल कर हँसने-बोलने को ही जीवन का उद्देश्य समझती है, वही स्त्री अपने बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा देगी, जिससे वे अधिक से अधिक सुखों को भोगने की इच्छा करेंगे । वह उनको विषयोत्पादक भोजन करायेगी, चमकीले-भड़कीले कपड़े पहनायगी, और कृत्रिम मनोरंजन के साधन जुटायगी, और शिक्षा भी इस प्रकार की देगी कि जिससे वे आत्म-त्यागी स्त्री या पुरुष के योग्य अनन्यतम उद्योग से पूरित और जान-जोखम से भरा हुआ श्रम करने में समर्थ तो न होंगे, केवल उससे बच निकलने की चतुरता प्राप्त कर सकेंगे और जिससे वे सरकारी पदवियाँ और डिग्रियाँ प्राप्त करेंगे—काम न करने वाले अहदी बन जाँयगे । जिस स्त्री ने अपने जीवन के अर्थ को भुला दिया है वही उस झूठे ढोंगी श्रम को पसन्द करेगी कि जिस के द्वारा उसका पति पुरुषोचित कर्तव्य को छोड़ कर उसके साथ दूसरे लोगों के श्रम से लाभ उठा सके । ऐसी ही स्त्री अपनी कन्या के लिए इस प्रकार का वर चुनेगी और पुरुषों का मूल्य वह उनके निजी

आन्तरिक गुणों से नहीं बल्कि बाह्य साधनों से—धन-सम्पत्ति से, पदवी से अर्थात् दूसरों के श्रम से लाभ उठाने की कौशलमय कला से आंकेगी।

एक सच्ची माता जो वास्तव में ईश्वर के नियम को जानती है अपने बच्चों को भी उस नियम का पालन करनेवाला बनायेगी। ऐसी माता जब अपने बच्चे को आवश्यकता से अधिक खाता हुआ देखेगी, अत्यधिक लाड़-प्यार से बिगड़ता हुआ देखेगी और ज़रूरत से ज्यादा कपड़ों से लदा हुआ पायेगी तो उसे हार्दिक दुःख होगा क्यों कि वह जानती है कि यह सब बातें उस ईश्वरीय नियम का जिसका उसने स्वयं अनुभव किया ह यथोचित रीति से पालन करने में बालक के लिए आगे चल कर बाधक सिद्ध होंगी। ऐसी स्त्री अपने बच्चे को वह शिक्षा न देगी जो उसे अपने ईश्वरीय कर्तव्य को छोड़ कर भाग निकलने की प्रेरणा करेगी या ऐसा होने की संभावना को रहने देगी। वह तो उसे वही शिक्षा देगी जिससे उसके बालक अपने जीवन-श्रम का भार उठाने में समर्थ हो सकें।

ऐसी स्त्री को यह पूछने की ज़रूरत न होगी कि वह बच्चों को क्या सिखाये या उन्हें किस काम के लिए तैयार करे क्योंकि वह जानती है कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है और वह किस तरह पूर्ण किया जा सकता है और इसीलिए वह यह भी

जानती है कि बच्चों को क्या सिखलाया जाये और उन्हें किस किस काम के लिए तैयार किया जाय। वह अपने पति को ऐसे झूठे और ढोंगी श्रम के लिए उत्साहित न करेगी जिस का उद्देश्य ही केवल दूसरों के श्रम से लाभ उठाना है; इतना ही नहीं वह उस प्रवृत्ति को घृणा और भय की दृष्टि से देखेगी क्यों कि उससे उसके बच्चों के भी बिगड़ने की सम्भावना है। ऐसी स्त्री अपनी कन्या के लिए जब वर पसन्द करेगी तो वह हाथों की सफ़ेदी और सुकुमारता को न देखेगी और न शिष्टाचार पर अधिक ध्यान देगी क्यों कि वह जानती है कि सच्चा श्रम क्या है और ढोंग क्या है और इस लिए पति से लेकर सभी पुरुषों का मूल्य वह उसी श्रम की कसौटी पर आँकेगी कि जो ईश्वर की ओर से उनके लिए निर्मित हुआ है और जिसके करने में स्वास्थ्य और प्राणों तक को जोखम में डालना पड़ता है साथ ही वह उस झूठे श्रम के ढोंग को घृणा की दृष्टि से देखेगी कि जिसका उद्देश्य सच्चे श्रम से किसी न किसी प्रकार बच निकलना है।

जो स्त्रियाँ अपने स्त्री-धर्म का पालन न करके उसके द्वारा जो अधिकार प्राप्त होते हैं उनसे लाभ उठाना चाहती हैं उन्हें यह कहने का हक़ नहीं है कि माता के लिए जीवन को ऐसे दृष्टि-कोण से देखना असम्भव है। वह यह नहीं कह सकती कि माता का प्रेम बच्चों के प्रति कुछ ऐसा घनिष्ठ होता है कि यह उसके

लिए अशक्य है कि वह उन्हें मिठाइयों से, अच्छे-अच्छे कपड़ों से तथा मनोरंजन की सामग्री से वञ्चित कर सके या पति के पास पर्याप्त सम्पति अथवा उचित साधन न होने पर वह उनके भविष्य के लिए भय न करे यह न सोचे कि कहीं मेरे बच्चों को भूखों न मरना पड़े या इस प्रकार की आशङ्का न करे कि यदि मेरे बच्चे-बच्चियों को 'शिक्षा' न मिलेगी तो बड़े होने पर सम्भव है उनका विवाह न हो सके।

यदि वह ऐसा कहती है तो यह झूठ—सफ़ेद झूठ है। सच्ची माता कभी यह न कहेगी मैं बच्चों कों मिठाइयें और खिलोंने तथा सरकस दिखाने की अपनी इच्छा को रोक नहीं सकती।

यदि कोई ऐसा कहती है तो उससे पूछो कि तुम अपने बच्चों को जहरीले बेर तो नहीं खाने देतीं, उन्हें अकेला किश्ती में बैठ कर सैर के लिए नहीं जाने देतीं, उन्हें जुआरियों के यहाँ भी नहीं लेजाना चाहतीं। तुम इन बातों का प्रतिबन्ध तो करती हो फिर उन बातों का प्रतिबन्ध क्यों नहीं कर सकतीं? बात तो यह है कि तुम सच्ची बात कहना नहीं चाहतीं।

तुम कहती हो कि तुम बच्चों को प्यार करती हो इसीलिए तुम्हें उन के प्राणों का भय है तुम्हें इस बात का डर है कि कहीं बच्चों को भूख और सर्दी से कष्ट न हो इसीलिए तुम्हारा पति जो सम्पत्ति सञ्चय कर रहा है उसे तुम पसन्द करती हो हालांकि

सम्पत्ति का सञ्चय जिस ढङ्ग पर हो रहा है उसे तुम अनुचित समझती हो। तुम बच्चों की भावी आपत्तियों और मुसीबतों से डरती हो उन मुसीबतों से कि जो अभी बहुत दूर हैं और इसीलिए तुम अपने पति को वह काम करने के लिए उत्साहित करती हो कि जो तुम्हारी राय में अनुचित है। किन्तु यह तो कहो कि तुम अपने बच्चों को वर्त्तमान परिस्थितियों से बचाने के लिए इस समय जो उन पर अभागी मुसीबतें पड़ रही हैं उनसे उबारने के लिए तुम क्या कर रही हो ?

क्या तुम अपना बहुत सा समय अपने बच्चों के साथ बिताती हो? यदि तुम दिन का दसवां हिस्सा भी देती हो तो बहुत बड़ी बात करती हो! बाक़ी समय वह अजनबी लोगों की देख-भाल में रहते हैं जिन्हें प्रायः गलियों में चलते भाड़े पर ले लिया जाता है। और या फिर वह ऐसी संस्थाओं में रहते हैं जहाँ नैतिक और शारीरिक व्यसनों में उनके फँस जाने की आशङ्का है।

तुम्हारे बच्चे कुछ खाते-पीते हैं ? उनके खाने की चीज़ों को कौन बनाता है ? कैसे और किन चीज़ों से वह सामग्री तैयार होती है ? सम्भवतः इस विषय में तुम कुछ भी नहीं जानतीं। तुम्हारे बच्चों को कैसी नैतिक शिक्षा दी जाती है ? तुम इस बात से भी अनभिज्ञ हो।

तब फिर यह मत कहो कि तुम इन बुराइयों को केवल अपने

बच्चों के भले के लिए भी किसी तरह बरदाश्त कर लेती हो—यह ठीक नहीं है। तुम इन बुराइयों को पसन्द करती हो इसीलिए ऐसा करती हो।

सच्ची माता जो बच्चों को पैदा करने और उनका पालन-पोषण करने में ही अपना त्याग-मय जीवन-कर्तव्य और ईश्वरेच्छा का पालन समझती है वह ऐसा कभी न कहेगी।

वह ऐसा न कहेगी, क्योंकि, वह जानती है कि उसका यह काम नहीं है कि वह अपनी अथवा जन-समाज की विकृत रुचि के अनुसार बच्चों को तैयार करे। वह जानती है कि बच्चे मनुष्य की आगामी पीढ़ी हैं और वह एक महान से महान और पवित्रतम ईश्वरीय धरोहर हैं जिनकी प्राण-पन से सेवा करना उसके जीवन का ध्येय है।

धीमें-धीमें टिमटिमाती हुई जीवन-ज्योति का लालन-पालन करने में लगी रहने के कारण वह सदा ही जीवन और मृत्यु के बीच में रहती है और इसलिए वह जानती है कि जीवन और मरण के प्रश्न पर विचार करना उसका काम नहीं है; उसका काम तो जीवन की सेवा करना है और इसीलिए इस सेवा के दूरस्थ मार्गों को वह खोजती हुई न फिरेगी। बस वह सेवा के निकट-तम मार्ग को हाथ से न जाने देगी।

ऐसी माता बालक को गर्भ में धारण करके स्वयं ही उनका

पालन-पोषण करेगी। और वह स्वयं बालकों के लिए खाना बनायेगी और उन्हें खिलायगी, वह स्वयं ही उन्हें कपड़े बना कर पहनायेगी और मैले हो जाने पर स्वयं ही धोयेगी। स्वयं ही उन्हें शिक्षा देगी और हर प्रकार की सेवा करेगी। वह साथ ही स.येगी और उनसे बातचीत करेगी क्योंकि इसी में वह अपने जीवन का कार्य समझती है। वह तो जानती है कि जीवन का कल्याण और आजीविका की निश्चिन्तता तो काम करने में और काम करने की सामर्थ्य प्राप्त करने में है और इसलिए वह पति के धन अथवा बालकों की पदवियों द्वारा बाह्य सुरक्षितता की चिन्ता न करके वह उन्हें वही त्यागमय जीवन व्यतीत करके भगवान की इच्छा पूर्ण करने की शक्ति प्राप्त करने में सहायता देगी कि जिस जीवन का उसे अनुभव है और वह उन्हें इस लायक बना-येगी कि भगवान की इच्छा पूर्ण करने के लिए जिस श्रम का भार वहन करने की ज़रूरत है उसमें स्वास्थ्य और जान का खतरा होने पर भी वह उससे न झिझकें। ऐसी माता को दूसरों से यह पूछना न पड़ेगा कि उसका क्या कर्त्तव्य है। वह तो स्वयं ही सब कुछ जान जायेगी और अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुसार कार्य करते हुए भयभीत न होगी क्योंकि उसको इस बात का सदा सन्तोष रहेगा कि उसने वही किया है कि जो उसका कर्त्तव्य था और जिसके लिए वह पैदा हुई है।

पुरुष अथवा बालक-विहीन स्त्री के लिए ईश्वर की इच्छा पूर्ण करने का कौनसा मार्ग है इस सम्बन्ध में किसी को कोई शक हो तो हो, पर माता के लिए तो यह मार्ग बिलकुल स्पष्ट और निश्चित है और यदि वह अपने कर्तव्य को अत्यन्त नम्रता-पूर्वक सरल हृदय से पालन करती है तो वह उस मानव-उच्चता के परम पद तक अनायास ही पहुँच जाती है कि जहाँ तक मनुष्य के लिए पहुँचना संभव है और जहाँ केवल मनुष्य ही पहुँच भी सकता है; और उस उच्चता और सम्पूर्णता की ओर जानेवाले सभी मनुष्यों के लिए वह उनका पथ-प्रदर्शन करती है। जो माता प्रेम-पूर्वक अपने बच्चों को गर्भ में धारण करती है और उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय समझ कर उनकी सेवा करती है वही वास्तव में अपने बनानेवाले विभु की सच्ची सेवा करती है और वही मरते समय भगवान के सामने शान्ति के साथ यह कह सकती है कि 'अब तू अपनी दासी को शान्ति के साथ विदा होने दे।'

और यही वह सर्वोत्कृष्ट सम्पूर्णता है जहाँ पहुँचने के लिए सभी उद्योग करते हैं।

ऐसी स्त्रियाँ जो अपने जीवनोद्देश्य को पूर्ण करती हैं शासन करनेवाले पुरुषों के ऊपर शासन करती हैं और मनुष्यों के लिए ध्रुव नक्षत्र की भांति पथ-प्रदर्शक का काम देती हैं। वह आगामी

पीढ़ी को साँचे में ढालती और लोकमत को तैयार करती हैं और इसीलिए इन्हीं स्त्रियों के हाथ में मनुष्यों के उद्धार की सर्वोच्च सत्ता है और वही उन्हें हमारे ज़माने की भयंकर आपत्तियों में से उबार सकती हैं।

हे स्त्रियो और माताओ ! संसार का उद्धार औरों की अपेक्षा तुम्हारे हाथ में अधिक है।

सस्ता-साहित्य मण्डल

मुख्य मुख्य

प्रकाशन

दिव्य जीवन—(Miracles of Right thought)

जीवन के प्रभात में ही सांसारिक चिन्ताओं के भार से कुम्हलाने वाले युवकों के लिए यह संजीविनी विद्या है। कुसंगति में भटकने वाले युवकों को सन्मार्ग बताने वाला गुरुमन्त्र है। मू० ।=)

जीवन-साहित्य—दो भाग (काका कालेलकर)

प्राचीनता और नवीनता में बराबर संघर्ष चला आया है। कोई प्राचीन संस्कृति में एकान्त सौंदर्य और श्रेष्ठता का दर्शन करता है और कोई पश्चिमी सभ्यता का ही अनन्य भक्त है। काका साहब ने इस पुस्तक में दोनों संस्कृतियों का अद्भुत समन्वय कर दिया है। पुस्तक का प्रत्येक अध्याय पवित्र ज्ञान और आल्हाद का देने वाला है। मू० १)

तामिल वेद—(अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर)

हम आर्यों के भारतवर्ष में आने के पहले इस देश में द्रविड़ नामक एक महान् जाति निवास करती थी। उसकी संस्कृति भी अत्यन्त उच्च थी। अत्यन्त चमत्कार पूर्ण और प्रसन्न भाषा में उसके सार सिद्धान्त अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर ने ग्रथित कर दिये हैं। द्रविड़ देश में इस पुस्तक का वेदों के समान आदर है। केवल भारत में ही नहीं समस्त विश्व साहित्य में इसका एक विशेष स्थान है। मू० ॥=)

शैतान की लकड़ी—

एक चीज को बुरी समझ कर भी जब आदमी उसका सेवन करता रहे, उसका गुलाम बन जाय तब उसे क्या कहें ? सारा संसार नशीली चीजों के पंजे में बुरी तरह फँस गया है। शराब, भांग, गांजा, तमाखू तथा व्यभिचार के कारण भारत की क्या दशा हो रही जरा इस पुस्तक को पढ़ कर देखिए। मू० ॥≈)

सामाजिक कुरीतियां—

मानवता अपनी ही बनाई कुछ बुराइयों के भार से पिस रही है। दुखसागर में डूबी हुई मानवता ऊपरी बातों को दूर करने से नहीं उबारी जा सकती। उसके लिए तो धर्म, नीति, कानून, विवाह, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, इन सबकी रूढ़ कल्पनाओं में समूल परिवर्तन की जरूरत है। इस पुस्तक में टॉल्स्टॉय अपनी जोरदार वाणी में इन सारी बुराइयों को प्रकट करते हैं। ॥≈)

भारत के स्त्री रत्न—(दो भाग)

प्राचीन-भारतीय देवियों के आदर्श जीवनचरित्र का यह पवित्र, सुन्दर और प्रकाशमय रत्न है। यह रत्न प्रत्येक भारतीय बहिन के हाथ में होना आवश्यक है। मू० १॥।–)

अनोखा—(The Laughing man)

अंगरेजी राजाओं और उनके दरबारों की कुटिल क्रीड़ाओं का हाल विक्टर ह्यूगो की विकट व्यंग्यमय भाषा में पढ़िए। मू० १=)

आत्मकथा—(*महात्मा गांधी*) प्रथम खण्ड

यह वही विश्व विख्यात आत्मचरित्र है जिसके अभी-अभी तीन संस्करण हो गये हैं। उपन्यासों की भांति मनोरंजक और उपनिषदों की भांति पवित्र और ऊँचा उठाने वाला यह ग्रन्थ प्रत्येक भारतीय को अपने पास अवश्य रखना चाहिए। मू० ।॥)

यूरोप का इतिहास—(तीनों भाग)

नवीन भारतीय जागृति में जो लोग सहायक होना चाहते है उन्हें यूरोप का इतिहास अवश्य पढ़ना चाहिए। उसमें एक नवीन सभ्यता का प्रयोग हो रहा है। हम भी नवीन संस्कृति का निर्माण करने जा रहे हैं। अतः हमें इसका अध्ययन विशेष ध्यान पूर्वक करना चाहिए। मू० २)

समाज विज्ञान—

आज कल देश में समाज-सुधार सम्बन्धी नित्य नये प्रयोग हो रहे हैं। इनको ठीक तरह समझने के लिए तथा समाज के विकास का शास्त्र—समाज विज्ञान पढ़ना बहुत लाभदायक है। मू० १॥)

खद्दर का संपत्तिशास्त्र—

खादी के नाम पर चिढ़ने वाले सज्जन इस स्तक को केवल एक बार पढ़लें। लेखक अमेरिका के एक अन्यन्त विद्वान शिल्पशास्त्री है और उन्होंने खादी की उपयोगिता और अनिवार्यता वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध की है। मू० ।॥≡)

गोरों का प्रभुत्व—

गोरों का प्रभुत्व अब संसार से धीरे-धीरे उठता जा रहा है। संसार की सवर्ण जातियाँ जागने लगीं और स्वतंत्र होने लगीं। इस पुस्तक में देखिए कि किस तरह वे गोरों को अपने देशों से भगाती जा रही हैं। मू० ।||≈)

चीन की आवाज—

चीन की वर्तमान क्रान्ति को समझने के लिए उनकी संस्कृति उनकी समस्याओं आदि का समझना बहुत जरूरी है लॉवेज डिकिन्सन ने पत्रों के रूप में चीन की समस्याओं को अत्यन्त आकर्षक ढंग से समझाया है। मू० ।-)

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग)

महात्मा गांधी ने इस महान् युद्ध का इतिहास स्वयं लिखा है सत्याग्रह के जन्म उसके सिद्धान्त आदि को अब प्रत्येक भारतवासी को समझ लेना चाहिए। मू० १|)

विजयी बारडोली—(साठ चित्र)

बारडोली के वीर किसानों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जो महान् शान्तिमय युद्ध छेड़ा था उसका यह अत्यन्त स्फूर्ति जनक इतिहास है। मू० २)

अनीति की राह पर—

ब्रह्मचर्य, संतति-निरोध, स्त्री पुरुषों को किस तरह पवित्रता

पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए इत्यादि पर बड़े ही रोचक एवं प्रभावशाली ढंग से महात्माजी ने अपने विचार रक्खे हैं। पुस्तक अत्यन्त लोक प्रिय है। पहला संस्करण हाथों हाथ बिक गया। दूसरा छप रहा है। मू० ॥)

नरमेघ !—

स्वाधीनता की रक्षा के लिए मरने वाले डच नागरिकों के आत्मयज्ञ का इतिहास! अद्भुत वीरता और स्वदेशी शासकों के रोमांचकारी अत्याचारों की क्रूर कथायें जिनके सामने रावण और मेघनादों की क्रूरता सात्विक नजर आने लगती है। शकुनी और दुर्योधन साधु पुरुष प्रतीत होने हैं। महाकाल का भैरव नृत्य—नरमेध! पढ़िए। मू० १॥)

जिन्दा लाश—(टॉलस्टॉय)

यौवन, धन, प्रभुत्व और अविवेक जहां होते हैं, वहां एक-एक भी अनर्थ कर डालता है। जहां चारों हों वहां तो परमात्मा ही रक्षा करें। अपनी अद्भुत शैली में टॉलस्टॉय ने इनके शिकार बने हुए युवकों और धनिकों का बड़ा ही बढ़िया खाका खींचा है। मू० ॥)

जब अंग्रेज आये—(छप रही है)

भारत में अंग्रेजी राज्य के संस्थापक क्लाईव की धोखेबाज़ी और कम्पनी बहादुर की कुटिलताओं की कहानी श्री अक्षयकुमार मैत्रेय लिखित इस पुस्तक में पढ़िए तो? कि अपने मुँह न्याय के ठेकेदार बनने वालों ने भारत में इस राज्य की स्थापना कैसे-कैसे विश्वासघात और नीचताओं पर की नींव पर की है। मू० लगभग १॥)

क्या करें ? (दो भाग) (ले०—महर्षि टॉलस्टाय)

इस पुस्तक की पश्चिमी संसार ने बड़ी प्रशंसा की है। मानव हृदय की उच्चता का मानों नाप है। दीन दुर्बलों के साथ मिल जाने की, उनके सुख दुःख में शामिल होने की, उनके दुःखों को मिटाने का वही स्वाभाविक व्याकुलता इस पुस्तक में भी है। महात्मा गांधी ने भी इसकी प्रशंसा की है। मू० १॥=)

हाथ की कताई-बुनाई—

यह वही प्रसिद्ध पुस्तक है जिस पर महात्मा गांधी ने चर्खासंघ की ओर से लेखकों को १०००) का पुरस्कार दिया था। वैदिक काल से लेकर आज तक के भारतीय वस्त्र-व्यवसाय का यह अत्यन्त सुन्दर मनोरंजक और आँखें खोलनेवाला इतिहास है। अब तक जिन्होंने खादी पहनना नहीं शुरू किया है उन्हें यह किताब अवश्य पढ़नी चाहिए। मू० ॥=)